श्री १०८ दिगम्बर जैनाचार्य—

श्री सूर्यसागरजी महाराज विरचित

संयम-प्रकाश

पूर्वार्द्ध—चतुर्थ किरण

सम्पादक—
श्री पं० श्रीप्रकाश शास्त्री,
न्याय-काव्य-तीर्थ

सम्पादक—
श्री पं० भँवरलाल जैन,
न्यायतीर्थ

प्रकाशिका—
श्री आचार्य सूर्यसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति,
जयपुर।

प्रथम संस्करण
१९५०

वीर संवत्
२४७२

मूल्य—
पूरे ग्रन्थ का १५) रुपया।
चतुर्थ किरण का २॥) रुपया।

इस ग्रन्थ के
पूर्वार्द्ध की पञ्चम किरण
"बृहत्समाधि अधिकार"
शीघ्र ही प्रकाशित
हो रही है।

पुस्तक प्राप्ति—स्थान—

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ,
मंत्री—श्री आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला समिति,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर सिटी।

❋ विषय-सूची ❋

आगे बृहत्समाधि अधिकार देखो

❀ अथ भावनाधिकारः ❀

संयम—प्रकाश

पूर्वार्द्ध—चतुर्थ किरण

भावनाधिकार

❀ मङ्गलाचरण ❀

श्रीपतिं बोधिदं नत्वा, नाभेयादिजिनेश्वरम् ।
एतेर्भावं प्रवक्ष्यामि, प्रशमामृतवर्षिणम् ॥१॥

भावना का महत्व

प्रत्येक प्राणी का उत्थान और पतन उसकी भावनाओं पर निर्भर है। सद्भावनाओं से वह ऊँचा उठता है और असद्भावनाओं से वह नीचे गिरता है। भावना का उत्थान ही मनुष्य का उत्थान है और सद्भावना से गिरना ही मनुष्यत्व का पतन है। वास्तव में देखा जाय तो भाव के अतिरिक्त मनुष्य और है भी क्या? मनुष्य भावनामय ही तो है। जीवन-निर्माण में भावना का कम महत्व नहीं है। तीर्थंकर-प्रकृति ऐसे महान पुण्य का बन्ध भावना से ही होता है इसी से हम उसकी उपयोगिता और महत्व अच्छी तरह समझ सकते हैं।

भावना से पदार्थ की वास्तविक स्थिति मनुष्य के सामने आ जाती है। जब विवेकी मनुष्य अनित्य, अशरण आदि की भावना—अभ्यास—करता है तब उसे संसार, शरीर, भोग आदि की अस्थिरता एवं हेयता स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। इसीलिए कहा गया है कि अपने आत्मा का हित चाहने वाले भव्यों को अनित्य आदि द्वादश भावनाओं को अपने जीवन मे उतारना चाहिए।

सच्चे मनुष्यत्व का निर्माण करना है तो भावनाओं को जीवन मे उतारो। अक्षय सुख की प्राप्ति चाहते हो तो भावनाओं का अवलम्बन लो।

'भावना भव-नाशिनी ।'

भावना भव का नाश करने वाली है। यदि भव (संसार) को नष्ट करना चाहते हो तो भावनामय बनो। भावनामय बनने-भावनाओं में घुल-मिल जाने—में ही मनुष्य का कल्याण है। ज्यो ज्यों भावनाएँ दृढ़ होती जाती हैं त्यों-त्यों वह आगे बढ़ता जाता है और आखिर अक्षय सुख के निकट पहुँच जाता है।

कोई योगी-जीवन यदि भावना-हीन व्यतीत हो तो उसे योगी-जीवन कहना सङ्गत नहीं। योगी-पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए जो भी कुछ विशेषता या महत्ता आनी चाहिए वह भावना के बिना आ ही नहीं सकती। योगी ने संसार, शरीर आदि को अनित्य और अशरण समझ कर ही तो छोड़ा है। यदि वह उन भावनाओं को जीवन में दृढ़ न करे, तो उसकी फिर संसार और शरीर मे आसक्ति हो सकती है। और यदि ऐसा हुआ तब तो उसका घोर पतन हो जायगा। इसलिए उसे बहुत ही संभल कर रहना होगा। योग और क्षेम दोनों को साथ लेकर चलना होगा। जो अनिश्चलता अप्राप्त है उसे पाना और पाई हुई अनिश्चलता की रक्षा करना यही मुनि का योग-क्षेम है। भावनाओं से ही वह इन दोनो चीजों को पाता है। भावनाएँ न हो तो न पाया हुआ कुछ भी शुभ कभी भी प्राप्त न हो सकेगा और तब प्राप्त की रक्षा भी असम्भव ही रहेगी।

मुनि, यदि वस्तुतः वह मुनि है तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। वह धर्म्य से आर्त्त-रौद्र में नहीं आता। उसका प्रयत्न धर्म्य से शुक्ल में जाने का होता है। वह पूरे आदर्श को पाना चाहता है। अपूर्ण मनुष्यत्व को नष्ट कर पूर्ण मनुष्यत्व को पा लेना ही उसका ध्येय होता है और वह भावनाओं के द्वारा अपने इस ध्येय की पूर्ति में सफल होता है। यह भावनाएँ धर्म्य-ध्यान रूप तो हैं ही, किन्तु आगे जाकर यही शुक्ल-ध्यान का आकार भी ग्रहण करती हैं। शुक्ल-ध्यान मे जो कर्मों के क्षय करने की शक्ति मानी गई है वह भावनाओं के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है? अतः यह सिद्ध है कि योगी की सफलता का मुख्य कारण उसकी भावनाएँ ही होती हैं। अतएव योगियों के आचार-शास्त्र मे भावनाओं का वर्णन बहुत ही आवश्यक समझ कर वैराग्य की जननी बारह भावनाओं का वर्णन यहाँ किया जाता है।

भावना शब्द का अर्थ और उसके भेद।

भावना का अर्थ है एक प्रकार का अभ्यास। वैराग्य की स्थिरता और प्रशम-सुख की वृद्धि के लिए बारह प्रकार के अभ्यास उपयोगी बताये गये हैं। मूलाचार में लिखा है :—

बारह भावनाओं के नाम

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसव-संवर-णिज्जर-धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो ॥ २ ॥

अर्थात्—(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) एकत्व, (४) अन्यत्व, (५) संसार, (६) लोक, (७) अशुचि, (८) आस्रव, (९) संवर, (१०) निर्जरा, (११) धर्म और (१२) बोधि–दुर्लभ–यह बारह भावनाएँ हैं। इनका निरन्तर चिन्तन-अभ्यास–करना चाहिए।

अनित्य–भावना ।

नित्य का अर्थ है हमेशा रहने वाली वस्तु। और अनित्य का अर्थ है विनाशमान। प्रत्येक वस्तु द्रव्य–दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्यायापेक्षया अनित्य है। साधारण रूप से दुनियाँ की दृष्टि वस्तु के जिस रूप पर पड़ती है वह उसकी पर्याय है और वह अनित्य है। दिखने वाली कोई पर्याय—वस्तु की कोई स्थिति,कोई रूप—नित्य नहीं। प्रतिक्षण वस्तु की कोई दूसरी ही स्थिति, कोई दूसरा ही रूप होता है। फिर भी यह मूर्ख प्राणी उसे नित्य समझ कर प्रेम करता है और स्वभाववश उसका विनाश होते देख दुःखी होता है। उसके वियोग में छटपटाता है। जब नाश होना वस्तु का स्वभाव है, धर्म है, तब उसके लिए खिन्न क्यों होना ? किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक संसारी प्राणी, जिसे सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है, अपनी इष्ट वस्तु का वियोग देखकर दुःखी होता है, सुनहरी जवानी पूरी होकर बुढ़ापा आ जाता है तो रोता है, अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ समीप आ जाती हैं तो विलाप करता है, पुत्र आदि किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो करुण–क्रन्दन मचाता है। इस दुःख से बचने का और कोई उपाय नहीं। एक अनित्यता की भावना ही ऐसी है जो वियोग के दुःख को सहने की क्षमता प्रदान करती है और अनन्त दुःखमय संसार में भी अव्याकुल होकर सुख और शान्ति के साथ जीवन बिताने की कला सिखलाती है।

अज्ञानी मनुष्य दुनियाँ के मोह में पड़कर अपने आपको भूलता है। क्षणिक वस्तुओं से नाता जोड़कर उनकी प्राप्ति का अभिमान करता है और उनके वियोग में क्लेश उठाता है। किन्तु ज्ञानी मनुष्य वस्तु–स्थिति का अनुभव कर दुनियाँ से मोह तोड़ता है और आत्मा से प्रेम जोड़ता है। अनित्य–भावना इस अभ्यास को दृढ़ बनाती है और बढ़ाती है। यही इसकी उपयोगिता है और इसी से यह योगी–जीवन का मूल मानी जाती है।

धन की अनित्यता का विचार

अज्ञानी प्राणी थोड़ा–सा धन पा लेता है तो अभिमान से फूला नहीं समाता। वह अपने आपकी स्थिति को भूल जाता है।

मदिरा को पीने पर नशा चढ़ा करता है किन्तु धन को पा लेने मात्र से ही उसमे उससे भी हजार गुणा पागलपन आ जाता है। उसे एक ऐसा रोग उत्पन्न हो जाता है जिससे आँख होते हुए भी वह देखता नहीं,कान होते हुए भी सुनता नहीं और मुँह होते हुए भी बोलता नहीं। वह धर्म-कर्म छोड़ देता है, व्यसनी बन जाता है। पर यह कभी नहीं सोचता कि यह लक्ष्मी कितने समय टिकने वाली है? यह तो चञ्चला है,आज तक किसी के पास नहीं टिकी। पुण्योदय से यदि इसका समागम हुआ है तो मैं इसे शुभ कार्यों में खर्च करके इससे पुण्य की नवीन ज्योति प्रकाशित करूँ। वह उसे पाप के कार्यों मे खर्च कर अपने आगे के मार्ग में कांटे बोता है या यह मुझे बाद में काम आवेगी इस विश्वास से ठगाया जाकर गुलाम की तरह उसकी रक्षा में लगा रहता है। अन्त मे उसे अपना या लक्ष्मी का वियोग होते देख दुःखी होना पड़ता है, और रोना पड़ता है। आर्त्त-ध्यान से प्राण गँवाने पड़ते हैं। किन्तु ज्ञानी को, लक्ष्मी की अनित्यता का अनुभव करने वाले को, इस प्रकार का दुःख नहीं होता। न उसे लोभ सताता है, न तृष्णा। न वह मद से उद्धत होता है और न इसके लिए दूसरों को सताता ही है। वह अस्थायी सम्पत्ति से स्थायी स्वार्थ सिद्ध करता है। सत्कार्यों में उसका उपयोग कर स्व-पर हित साधन करता है।

जीवन की अनित्यता

इस जगत् में किसी का जीवन स्थिर नहीं। कोई राजा हो चाहे रङ्क, धनी हो चाहे निर्धन, मूर्ख हो चाहे विद्वान्, सबल हो चाहे निर्बल, जिसने भी यहाँ जन्म लिया है उसे एक न एक दिन मरना होगा। भरत आदि अतुल बल और वैभवशाली चक्रवर्ती हुए, पर आज उनका कहीं पता नहीं। अभिमानी रावण मारा गया, उसे मारने वाले रामचन्द्र भी न रहे। कौरव-पाण्डवों की कितनी प्रसिद्धि थी, पर आज उनके अस्तित्व का कहीं पता नहीं। जब बड़ों-बड़ों की ही यह दशा है तब बेचारे साधारण मनुष्यों का तो यहाँ टिकाव हो ही कैसे सकता है? संसार में मृत्यु जैसा कोई निश्चित पदार्थ नहीं। वह हर एक के लिए अनिवार्य है। वह कब आवेगी यह कोई नहीं जानता, पर यह सबको मानना ही होगा कि वह अवश्य आएगी। आज आवे, कल आवे १०-२० वर्ष में आवे, या अभी आ जाय, उसे कोई रोक नहीं सकता। अनन्त भूतकाल से अब तक मनुष्य ने उसको रोकने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किये हैं, लेकिन उसने सभी को पछाड़ा है। ऐसा ज्ञात होता है कि वह कभी न हारेगी। क्योंकि वह वस्तु का स्वभाव है। जन्म के साथ मृत्यु लगी हुई है। जन्म लेने के दूसरे क्षण से ही मृत्यु-प्रारम्भ हो जाती है। आयु के क्षण पूरे होते जाते हैं, मृत्यु नजदीक आती जाती है। जिसे हम 'मृत्यु' कहते हैं वह तो उसका स्थूल रूप है। आवीचिमरण सदा ही होता रहता है। जैसे छेद वाले घड़े में से थोड़ा-थोड़ा पानी हमेशा निकलता रहता है और इसी से थोड़े समय मे वह बिल्कुल रीता दिखाई देने लगता है वैसा ही हाल हमारे जीवन का है। प्रतिक्षण खिरने वाले आयु के निषेक जब पूरे हो जाते हैं तब हम समझते हैं कि हमारी मृत्यु आ गई। पर यह भ्रम है। हमारा जीवन तो फूटे घड़े के जल की तरह प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, वह स्थिर है ही कहाँ? उसका व्यर्थ व्यय यदि विचारणीय है तो उस पर प्रारम्भ से ही विचार करना चाहिए। अन्त मे उसका उपयोग करने के लिए कोई

चाहे कितना ही प्रयत्न करे कोई लाभ नहीं हो सकता। बीता हुआ जीवन वापिस नहीं आ सकता। अतः अनित्य जीवन से नित्य (हमेशा रहने वाले) धर्म का सञ्चय करना है तो प्रारम्भ से ही करना चाहिए। यही बुद्धिमानी है। ऊपर हम समझ आए हैं कि जीवन हमेशा किसी का भी स्थिर नहीं रहता और थोड़े समय स्थिर रहने का भी कुछ भरोसा नहीं। क्या पता अभी आगे का श्वास भी आवे या न आवे। पर्वत की चोटी पर, जहाँ चारो ओर से जोर की हवा के झोंके आया करते हैं, तेल के बल से जलने वाले तुच्छ दीपक का थोड़ी भी देर तक जलते रहना आश्चर्य है। बुझ जाना आश्चर्य नहीं। उसी प्रकार रोगादि की अनेक बाधा-ग्रस्त इस जीवन का थोड़े भी समय टिका रहना आश्चर्य है। विनाश आश्चर्य की चीज नहीं है। हमारा यह जीवन-मनुष्यादि पर्याय-पौद्गलिक शरीर के सहारे टिका हुआ है और वह प्रतिक्षण नश्वर है। तब यह जीवन नित्य कैसे हो सकता है?

यौवन की अनित्यता

जब जीवन का ही यह हाल है तब उसी के बीच मे प्राप्त होने वाले यौवन को स्थिर मानना नितान्त भ्रम और मूर्खता ही है। सूर्य प्रातः काल उगता है, अपनी सहस्र किरणों को विकम्पित कर मध्याह्न में तेजी दिखाता है पर थोड़ी ही देर में सायंकाल आ पहुँचता है। न उसकी वह तेजी रहती है और न स्वयं उसका ही यहाँ अस्तित्व रहता है। जीवन मे यही हाल यौवन का है। वह तो चार दिन की चाँदनी है। बाद में अँधेरा ही अँधेरा। पर्वत से गिरने वाले नाले के पानी की तरह यौवन में स्थिरता है ही कहाँ? आया और गया। यौवन के भोग चिरकाल तक नहीं टिक सकते। उनके साथ अनेक विपत्तियाँ लगी हुई हैं। 'भोगे रोग-भयम्।' भोगों की ओर झुको, रोग आ सतावेंगे। अतः यौवन के मद में अपने आपको भूलने वाला मनुष्य यह देखे कि मेरा यह अभिमान कितने दिन चल सकेगा? सामने व्याघ्री की तरह ताक लगाये मौत की छोटी बहन जरा खड़ी है, इससे मेरा छुटकारा कैसे होगा? आज जिन बुड्ढों का मैं उपहास करता हूं क्या शीघ्र वही दशा मेरी होने वाली नहीं है? ओह! वह झुकी हुई कमर, झुर्रियाँ पड़ा हुआ शिथिल शरीर, पोपला मुँह, बहरे कान, गीद भरी हुई पानी झरने वाली आँखें, लड़खड़ाते हुए पैर, वेग-शून्य गति, आदर रहित व्यक्तित्व मेरे से कितने कम दूर हैं? यदि दीवानी जवानी के वशीभूत हो मैंने अपने कर्तव्य को छोड़ दिया, दूर पर उसे खड़े रहने का उचित प्रबन्ध न किया तो वह और भी शीघ्रता से मेरे नजदीक आ जावेगी और तब सारा दीवानापन अपने आप दूर हो जायगा। वास्तव में यौवन के नशे में अपने आपको—अपने आत्मा को और अपने कर्तव्य को—भूलने वाला मनुष्य ज्ञानी नहीं। ज्ञानी वही है जो इसे अनित्य अनुभव कर परमार्थ साधन करता है और आगे के लिए जन्म-मरण को जीत लेता है।

सब की अनित्यता

ऊपर धन, जीवन और यौवन की अनित्यता मुख्य रूप से बताई गई है; क्योंकि बहुधा इन्हीं के मोह में फँस कर प्राणी अपने

[illegible] मालूम पड़ता है किन्तु वस्तु-स्थिति पर विचार करने से तो यहाँ कोई भी वस्तु नित्य नहीं,जैसा कि पहले कहा जा चुका है। [illegible] संसार-संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। संसार का अर्थ ही यही है, जो अनित्य हो; सदा एक-सा न रहे। यदि कहीं परिवर्तन [illegible] वह संसार ही नहीं। सब वस्तुओं की अनित्यता का विचार कर श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं :—

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व स-देव-माणुस-तिरिक्खो ।

रिद्धीओ सव्वाओ सिविणय-संदंसण-समाओ ॥ १७१६ ॥ (भग. आ.)

जैसे पानी के झाग या बुदबुदे की स्थिति टिकाऊ नहीं, क्षणिक है-वह देखते-देखते नष्ट हो जाती है वैसे ही देव, मनुष्य और तिर्यंचों से भरे हुए इस लोक की स्थिति भी विनाशमान है। यहाँ मनुष्य और तिर्यंचो का ही नहीं, देवों का शरीर भी अनित्य है। हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे, राज-भवन, छत्र, सिंहासनादि सब विभूतियाँ भी स्वप्न-दर्शनोपम हैं। स्वप्न की तरह जीवन के कुछ क्षणों में तो दिखती हैं और फिर सर्वदा के लिए लुप्त हो जाती हैं।

विज्जूव चञ्चलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्व-सोक्खाइं ।

जल-बुब्बुदोव्व अधुवाणि हुंति सव्वाणि ठाणाणि ॥ १७१७ ॥ (भग. आ.)

संसार के समस्त सुख-पंचेन्द्रिय जनित सुख बिजली के समान चञ्चल हैं-एक बार दिखे और नष्ट हुए। कोमल स्पर्शवाली शय्या, सुस्वादु भोजन-पान, सुगन्धित इत्र, सुन्दर दृश्य, मनोहर गायन आदि भोग क्या स्थायी हैं? क्या जीव को संसार में सर्वदा मिल [illegible]? पूर्व पुण्य से कोई सुख-सामग्री मिलती है तो वह सदा [illegible] रहती है? इस जीवन की सामग्री आगे के जीवन में तो कभी साथ [illegible] ही नहीं। उसमें यहाँ भी आसक्ति उत्पन्न हुई तो वियोग का दुःख और आगे सुख के स्थान में महा दुःख। इसलिए सांसारिक सभी सुख सामग्रियों की अनित्यता पर ध्यान दो। यह ग्राम, नगर, महल, मकान कोई भी सदा तुम्हारे रहने वाले नहीं। यह घर मेरा है, मैं यहाँ रहता हूँ, हमेशा रहूँगा- ऐसा कभी मत सोचो। इनमें स्थायिता का अभिमान तुम्हें इनके वियोग में मर्मवेधी पीड़ा देगा। इसलिए जल-बुदबुदोपम यह अनित्य हैं तो इनको अनित्य ही समझो।

णावागदाव बहुगइ-पधाविदा हुंति सव्व-संबंधी ।

सव्वेसिमासया वि अणिच्चा जह अब्भसंघाया ॥ १७१८ ॥ (भग. आ.)

दुनियों का कोई सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं। नदी को पार करते समय जिस प्रकार नाव में अनेक देशों के अनेक यात्री आ बैठते हैं, थोडी देर एक साथ रहते हैं और किनारा आते ही उतर कर अपने अपने मार्ग की सुध लेते हैं वैसे ही कुटुम्ब की दशा है। एक कुल रूपी नाव मे अनेक यात्रियों की तरह कुटुम्ब के अनेक लोग जन्म लेकर आ बैठते हैं और किनारों की तरह आयु का अन्त होते ही विदा होते हैं। इसी प्रकार स्वामी, सेवक, भ्राता, पुत्र, मित्र, स्त्री आदि किसी आश्रय को नित्य नहीं समझना, क्योंकि इन सब की स्थिति बादलों के समूह की तरह देखते-देखते बिछुड़ने वाली है। इसलिए यह समझना इनके सहारे से मैं जीता रहूंगा ठीक नहीं।

संवासो वि अणिचो पहियाणं पिण्डणं व छाहीए।

पीदी वि अच्छिरागोव्व अणिचा सव्वजीवाणं ॥ १७१९ ॥ (भग. आ.)

जैसे—अनियत नाना देशो से आये हुए पथिक (मुसाफिर) एक सराय या धर्मशाला में निवास करते हैं, अथवा किसी घनी छाया वाले वट आदि वृक्ष के नीचे अनेक स्थानो के मनुष्य आकर मिलते हैं और दूसरे दिन अथवा कुछ काल के अन्तर अपना अपना मार्ग लेते हैं वैसे ही पूर्व कर्म के फल स्वरूप पुत्र, मित्र, स्त्री आदि पदार्थों का संयोग होता है। कर्म फल भोगने के पश्चात् वे भी कर्म से प्रेरित हुए वियुक्त हो जाते हैं। फिर कभी आकर नहीं मिलते। उनकी प्रीति भी स्थिर नहीं। निमित्त विशेष से जन्य नेत्रों की लालिमा के समान वह भी क्षणभंगुर हैं। अर्थात् संसार के लोगो का प्रेम स्वार्थ का है। क्षणमात्र में बदल जाता है। किसी का स्वार्थ न सधे तब देखो वह प्रेम रखता है या नहीं ? इससे अनित्यता स्पष्ट होगी।

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाणं पिण्डणं व संजोगो।

परिवेसोव अणिचो इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥ १७२० ॥ (भग. आ.)

अर्थ—सायंकाल होने पर रात्रि के समय नाना देश व दिशाओं से आकर पक्षी एक वृक्ष पर निवास करते हैं उनका पहले से संकेत नहीं होता। पहले के संकेत के बिना ही वे आ मिलते हैं और प्रातःकाल पुनः नाना दिग्देशों में चले जाते हैं। उसी प्रकार संकेत बिना ही अनेक गतियो से आये हुए कुटुम्बियों का संयोग होता है और वे मर कर पुनः त्रस, स्थावर आदि अनेक योनियों में चले जाते हैं। तथा चन्द्रमा का परिवेष (उसके बिम्ब के आस पास कभी कभी होने वाला मण्डल) जिस प्रकार क्षणभंगुर है, उसी प्रकार संसार का ऐश्वर्य-प्रभुत्व, आज्ञा, धन-सम्पत्ति, आरोग्य आदि सब अस्थिर है।

इंदियसामग्गी वि अणिचा संझाव होइ जीवाणं।
मज्झण्हं व णराणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोए ॥ १७२१ ॥
चंदो हीणो व पुणो विड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि।
णदु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदिच्छिदं चेव ॥ १७२२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—इन्द्रिय-सामग्री भी अनित्य है। प्रथम तो इन्द्रियो की पूर्णता का होना ही कठिन है और कदाचित् क्षयोपशम विशेष से इन्द्रियो की अविकल प्राप्ति होती है और उनमे विषय ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान होती है तो भयानक व्याधि के उपस्थित होने पर अथवा वीर्यान्तराय का तीव्रोदय होने पर अथवा अवस्था के ढलने पर उनकी वह विषय-ग्रहण की सामर्थ्य विलीन हो जाती है; अतः उसे संध्या की लालिमा के समान कुछ काल के लिए ही टिकाऊ समझना। मनुष्यों की यौवनावस्था भी मध्याह्न काल के सदृश अस्थिर है। अर्थात् जैसे दिवस का मध्याह्न काल सायंकाल के आगमन पर अदृश्य होजाता है, उसी प्रकार जरा अवस्था के आने की सूचना मिलते ही यौवन भी अपना रास्ता लेलेता है।

चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण होता है और शुक्ल पक्ष में वृद्धिगत होता है। वसंतादि ऋतुएँ बीत जाने पर पुनरपि आती हैं। किन्तु मनुष्य की यौवनावस्था बीत जाने पर फिर लौट कर नहीं आती, जैसे नदी का बहकर आगे गया हुआ जल फिर वापिस लौटकर नहीं आता है।

धावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवलोगम्मि।
सुकुमालदा वि हीयदि लोगे पुव्वण्हछाही व ॥ १७२३ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् के जीवों की आयु पर्वत से गिरने वाली नदी के प्रवाह के समान तीव्रगति से निरन्तर दौड़ रही है। और समस्त प्राणियो की सुकुमारता (कोमलपन) प्रातःकाल की छाया के समान क्षण-क्षण में क्षीण होती रहती है। सार यह है कि इस संसार में जितने पदार्थ दिखाई देते है वे सब नष्ट होने वाले हैं यह स्पष्ट है। शरीर रोगों का घर है, उसके एक-एक रोम-कूप में पौने दो दो रोगों की सत्ता है। यौवन के साथ बुढ़ापा लगा हुआ है। बुढापे मे बल और ज्ञान भी साथ छोड़ देते हैं। ऐश्वर्य विनाश से व्याप्त है—चक्रवर्ति,बलभद्र, नारायण सरीखो का भी वैभव नहीं रहा। स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के जितने भी संयोग होते हैं उनका भी वियोग होता ही है। जीवन मरण का अविनाभाव है। अति बलवान भी मृत्यु से नहीं बचे। अनेक प्रकार के भोजन आदि से पुष्ट करते करते भी आयु के पूर्ण होते ही शरीर साथ छोड़ देता है। उसे तीर्थंकर ऐसे भी विनाश से नहीं बचा सके। इसलिए संसार,शरीर,भोग आदि सब को अनित्य समझ कर किसी से मोह मत

करो । दुनियाँ की किसी विभूति को देख कर मत लुभाओ । यह विनाशी है, तुम्हें धोखा देगी । अस्थिर को स्थिर समझ लेने से पद पद पर दुःख उठाना पड़ता है । तुम अपने अविनाशी आत्मा से प्रेम करो । शरीर के शीर्ण होने से पहले ही धर्म की सिद्धि करो । धोखे में मत रहो । धन, यौवन आदि के उन्माद में या कुटुम्बियों के मोह मे पड़ कर अपने हित-साधन को न भूलो । अन्यथा 'देह खेह हो जायगी, फिर का करि है धर्म ?, ज्ञान का उपार्जन करना है तो शीघ्र करो, तप की वृद्धि करनी है तो शीघ्र करो, दान देना है तो शीघ्र देओ । दूसरों की सेवा शुश्रूषा, उपकार आदि जो भी कुछ करना है उसमे विलम्ब मत करो । आगे के भरोसे मत रहो । यह अनित्यता का अभ्यास तुम्हें अपूर्व सुख-शान्ति देगा ।

अशरण—भावना

अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करना अशरण भावना है । कर्मोदय से प्राप्त होने वाले जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि दुःखों में जीव को शरण देने वाला, इनसे बचाने वाला कोई नहीं अतः यह जीव अशरण है । कहा भी है :—

हयगयरहणरबलवाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ ।
मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य ॥ ५ ॥
जम्मजरामरणसमाहिदम्हि सरणं ण विज्जदे लोए ।
जरमरणमहारिउवारणं तु जिणसासणं मुचा ॥ ६ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—हाथी, घोड़े, रथ, मनुष्य, सेना, वाहन, मन्त्र, औषधियाँ. प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ जीव को मृत्यु से बचाने में असमर्थ हैं । मनुष्य दूसरों से अपनी रक्षा करने के लिए अनेक प्रकार वंचना करते हैं और उसमें कभीर सफल भी हो जाते हैं—साम, दान, दण्ड और भेद यह चार प्रकार की नीति अन्यत्र तो कृतकार्य हो भी जाती है; किन्तु मृत्यु के सामने ये सब हतवीर्य हैं, जैसे गरुड़ के सम्मुख काले नाग । मृत्यु का भय उपस्थित होने पर भाई बन्धु आदि कोई शरण नहीं होता है ।

मरणभयम्हि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति ।
धम्मो ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं ॥ ७ ॥ (मूला. द्वा.अ.)

अर्थ—मरण का भय प्राप्त होने पर इन्द्र सहित सब देव मिल कर भी जीव की रक्षा नहीं कर सकते। एक जिनेन्द्र निरूपित धर्म

ही रक्षक है, इसलिए उसे ही शरण रूप चिन्तन करो।

णासदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ।
अमदं पि विसं सच्छं तणं पि णीयं वि हुंति अरी ॥ १७२६ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—कर्म का उदय होने पर जीवों की बुद्धि नष्ट हो जाती है। कुछ उपाय नहीं सूझता। अमृत विष हो जाता है। तृण शस्त्र रूप बनकर मृत्यु का कारण होजाते हैं। बन्धुजन शत्रु हो जाते हैं।

भावार्थ—अनादि काल से अज्ञान के वशीभूत हुआ यह आत्मा अपनी भूल से निरन्तर ज्ञानावरणादि कर्मों का ग्रहण करता है और बँधता है। द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के संयोग से जब उसका अप्रिय एवं कटु फल मिलता है तब उसमे बचाने के लिए कोई समर्थ नहीं होता है। इसलिए प्रत्येक आत्मा अपने आपको अशरण अनुभव करे। संसार मे दूसरा कोई कर्म–फल–भोग से बचाने वाला नहीं है।

प्रतीकार रहित कर्म का जब उदय आता है तब उसके फल स्वरूप दुःख को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। अर्थात् जन्म,जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि के उपस्थित होने पर तज्जन्य कष्टों का भोग अवश्य करना पड़ता है। इस जगत् में जीवों का रक्षक व आश्रय दाता कोई नहीं होता है, यदि कोई जीव अपने कर्म के उदय से बचने के लिए किसी देव की सहायता से पाताल लोक मे भी चला जावे तो भी उसका छूटना असम्भव है।

गिरि की कन्दरा, अटवी, पर्वत व समुद्र में तो क्या; लोकान्त में भी जीव निवास करने चला जावे तो भी यह अशरण जीव उदयागत कर्म से कदापि छूटने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है। अर्थात् लोक के अन्त में जाना असम्भव है,यह असम्भव कार्य भी कदाचित सम्भव हो जावे तो हो जाओ, किन्तु निकाञ्चित (प्रतीकार रहित) कर्म का फल भोगे बिना छूटना सर्वथा अशक्य है।

द्विपद, चतुष्पद तथा पेट के बल चलने वाले जीवों का गमन भूमि पर ही होता है, मच्छर आदि जलचर जन्तुओं की गति जल मे ही होती है, पक्षियों की गति आकाश में ही होती है, किन्तु काल का गमन सर्वत्र अप्रतिहत है। इसकी गति को रोकने वाला संसार में कोई भी नहीं है।

सूर्य, चन्द्र, पवन, और देव इनसे अगम्य प्रदेश हैं–अर्थात् सूर्य और चन्द्र का प्रताप व प्रकाश संसार के कोने कोने में पहुँचता है, वायु प्रायः सर्वत्र बहती है और देवों का प्रायः सर्वत्र गमन है, तथापि लोक में ऐसे भी कई स्थान हैं जहाँ उक्त चारों का गमन नहीं होता,

किन्तु काल की सर्वत्र गति है। ऐसा कोई स्थान संसार में नहीं जहाँ काल का गमन न होता हो।

विद्या बल, मन्त्र बल, औषधि बल, शरीर का बल, आत्मा का बल और हाथी घोड़े रथ योद्धा आदि सेना बल, साम दान दण्ड भेद यह नीति बल, कर्म जन्य फल को मिटाने के लिए समथ नहीं है। जैसे उदयाचल के शिखर पर प्रयाण करने वाले सूर्य को रोकने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है, वैसे ही दुःख देने में प्रवृत्त हुए कर्म के उदय का प्रतिरोध करने की किसी में भी शक्ति नहीं है।

भयानक तथा संघातक रोगों व महामारियों से बचने के उपाय हैं; किन्तु कमलिनी के वन का विध्वंस करने वाले मदोन्मत्त हस्ती के समान संसार के जीवों का मर्दन करने वाले इस कर्म के उदय से बचने का कोई उपाय नहीं है। रोगों का भी प्रतीकार तभी हो सकता है जब कि कर्मों का मन्द उदय हो या उपशम हो। जिस समय कर्मों की उदीरणा या तीव्र उदय होता है उस समय उनका प्रतीकार करना सर्वथा अशक्य ही नहीं, असम्भव है।

निकाचित कर्मोदय को विद्याधर, वासुदेव, बलदेव और चक्रवर्ती तो क्या साक्षात् त्रिजगदीश्वर तीर्थंकर भी मिटा नहीं सकते तब साधारण अल्पशक्ति वाले मनुष्य की तो सामर्थ्य ही कहाँ ?

दिव्य शक्ति का धारक कोई महाबली पैदल चलकर पृथ्वी के दूसरे छोर तक भी पहुँच जावे, या भुजाओं से महासमुद्र को तैरकर उसको पार भी कर जावे, तो भी उदीर्ण कर्म के फल को उल्लंघन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। उसे तो भोगना ही पड़ता है।

सिंह की डाढ़ में पहुँचे हुए मृग को तथा महामत्स्य के उदर में पहुँचे हुए छोटे मत्स्य को बचाने वाला कोई नहीं, उसका मरण अवश्यंभावी है, इसी प्रकार आयु कर्म के अन्त मे काल के मुख मे पहुँचे हुए इस जीव का कोई शरण नहीं है।

संसार में शरण (आश्रय) दो प्रकार का है। एक तो लौकिक शरण और दूसरा लोकोत्तर शरण। इन दोनों के तीन २ भेद हैं। अर्थात् लौकिक शरण तीन प्रकार का है–१ लौकिक जीव शरण, २ लौकिक अजीव शरण और ३ लौकिक जीवाजीव शरण। इसी प्रकार लोकोत्तर शरण भी तीन प्रकार का है–१ लोकोत्तर जीव शरण, २ लोकोत्तर अजीव शरण और ३ लोकोत्तर जीवाजीव शरण।

१ राजा, देवता आदि लौकिक जीव–शरण हैं।

२ कोट, खाई आदि लौकिक अजीव–शरण हैं।

३ कोट, खाई आदि सहित ग्राम, नगर, पर्वत आदि लौकिक मिश्र–शरण हैं।

१ लोकोत्तर जीव शरण—पञ्च परमेष्ठी-अरिहंतादि लोकोत्तर (अलौकिक) जीव शरण हैं।

२ लोकोत्तर-अजीव शरण—पञ्च परमेष्ठी के प्रतिबिम्बादि अलौकिक अजीव शरण हैं।

३ लोकोत्तर मिश्रशरण—धर्मोपकरणसहित साधुवर्ग अलौकिक जीवाजीव शरण हैं।

इस लोक सम्बन्धी भय से बचाने वालों को लौकिक शरण कहते हैं और परलोक सम्बन्धी भय से बचाने वालों को लोकोत्तर शरण कहते हैं। जैसे-बलवान् क्षुधातुर और मांस के लम्पटी व्याघ्र के द्वारा एकान्त में दबाए हुए मृग-बालक को उस व्याघ्र से छुड़ाने के लिए इस लोक में कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार जन्म, मरण,व्याधि, प्रिय वियोग,अप्रिय संयोग,इष्ट पदार्थ की अप्राप्ति,दारिद्रय आदि शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से घिरे हुए उस जीव को कोई शरण देने वाला नहीं है। अनेक सुखों से उपलालित यह पुष्ट शरीर भी भोजन करनेमें ही आत्मा का सहायक होता है, कष्टों के आने पर आत्मा की सहायता करने मे समर्थ नहीं होता है। घोर परिश्रम से उपार्जन किया हुआ विपुल धन भी मृत्यु से रक्षा नहीं करता, और न आत्मा के साथ परभव मे साथ ही जाता है। सुख दुःख के सहयोगी मित्र भी मरण का समय आने पर इस जीव का संरक्षण नहीं कर सकते। चारो तरफ सदा घिरे रहने वाले बन्धुजन भी इसको अन्त में छोड़ कर अलग हो जाते हैं। परभव में भी इसकी रक्षा करने वाला और प्रतिक्षण सहायता करने वाला यदि इस लोक मे कोई है तो वह एक धर्म ही है,दूसरा कोई रक्षक नहीं है। अतएव हे आत्मन्! जिस समय तुम्हें मृत्यु आकर घेर लेगी, उस समय इन्द्र भी उससे बचाने में समर्थ नहीं होगा, न बन्धु होंगे न मित्र-पुत्र-धन-कलत्रादि। यदि सहायक होगा तो उत्तमता से आचरण किया हुआ एक धर्म ही होगा। इसलिए अपने को अशरण अनुभव करने का अभ्यास करो और धर्माराधन मे चित्त लगाओ।

एकत्व—भावना

इस जीव का कोई साथी नहीं। यह सदा अकेला ही है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। जन्म, जरा, मरण, रोगादि की प्राप्ति में कोई इसका हाथ नहीं बटाता। कर्मों के फल स्वरूप अनन्त दुख, अपार वेदनाएँ,अकेले को ही सहनी पड़ती हैं। इस प्रकार अभ्यास करना एकत्व भावना है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से एकत्व चार प्रकार का होता है।

जीवादि छह द्रव्यों मे से किसी एक द्रव्य के द्रव्य एकत्व है। परमाणु जितने क्षेत्र में ठहरता है उतने क्षेत्र (प्रदेश) को क्षेत्र एकत्व कहते हैं। कालका जो एक समय है उसे काल एकत्व कहते हैं। मोक्ष मार्ग को भाव एकत्व कहते हैं।

संसार में जो अनेकपन दिखाई देता है वह एकपने को लिए हुए है।

जिसने बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह त्याग करके सम्यग्ज्ञान से अपने एकपने का निश्चय कर लिया है,जिसकी एक यथाख्यात चारित्र रूप प्रवृत्ति हो रही है, उस आत्मा के मोक्ष मार्ग रूप से एकपना होता है। उस एकपने की प्राप्ति के लिए ऐसी भावना करना चाहिए कि मैं इस संसार में अकेला ही हूँ। मेरा दूसरा कोई स्व अथवा पर नहीं है। मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ और अकेला ही मरता हूं। कोई दूसरा स्वजन या परजन मेरे व्याधि, जन्म-मरणादि के दुःखों को दूर नहीं कर सकता। मेरे बन्धुजन व मित्रादि श्मशान तक ही रहते हैं, आगे साथ नहीं रहते। एक धर्म ही मेरा साथी है। जैसा कि कहा भी है :—

विसं गेहाद्दश्रितायां व्यावर्त्तन्त बान्धवाः श्मशानात्।
एकं नानाजन्मवल्लीनिदानं याति शुभाशुभं कर्म जीवेन सार्धम्।

अर्थ—जब आत्मा इस शरीर को छोड़कर परलोक में जाता है तब उसका साथ कोई नहीं देते। बड़े कष्ट से उपार्जन किया हुआ धन, घर से ही साथ छोड़ देता है-वह तो घर में ही रह जाता है। खूब लालन-पालन किया हुआ शरीर चिता में ही छूट जाता है। आगे साथ नहीं जाता। पुत्र, मित्र, भ्रातादि भी श्मशान से ही लौट जाते हैं। यदि कोई परभव में साथ जाने वाला है तो वह शुभाशुभ (पुण्य-पाप) कर्म ही है। उसके अतिरिक्त जीव का कोई साथी नहीं है।

इस प्रकार एकत्व का अभ्यास करने वाले के अपने आत्मीय (कुटम्बी) जनों में प्रेम-बन्ध और परकीय (शत्रु आदि) जनों में द्वेष-सम्बन्ध नहीं होता। एकत्व भावना से उसके निःसंगपना उत्पन्न होता है और परिग्रह का बोझा उतर जाने पर वह-ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुयत्तओ दुहिदो।
वज्जदि मच्चुवसगदो ण जणो कोइ समं एदि ॥ ८ ॥
एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीह संसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥ ६ ॥ [मूला. द्वा. अ.]

अर्थ—यह प्राणी भाई भतीजा पुत्रादि स्वजन और दास मित्र आदि परिजन के मध्य अकेला ही व्याधि से पीड़ित होकर दुःख भोगता हुआ काल का ग्रास बनता है। साथ में न स्वजन जाते हैं और न परिजन जाते हैं।

अकेला ही शुभाशुभ कर्म करता है और अकेला ही अपार संसार मे भ्रमण करता है। अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। इस प्रकार एकत्व भावना का चिन्तन करना चाहिए।

पावं करेदि जीवो बंधवहेदुं सरीरहेदुं च।
णिरयादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥ १७४७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यह आत्मा बन्धुओं के लिए-उनकी शरीर-रक्षा तथा उनके मनोरंजनादि के लिए, और स्वयं अपने शरीर आदि के पोषण के लिए अनेक पाप करता है; किन्तु उन पापों का नरक निगोदादि में फल अकेले को ही भोगना पड़ता है। उसमें हिस्सा बँटाने वाला कोई नहीं होता।

रोगादिवेदणाओ वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं।
पेच्छंता वि समक्खं किंचि वि ण करंति से णियया ॥ १७४८ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—पूर्वोपार्जित असातावेदनीय कर्म के उदय से, उत्पन्न हुई रोग की वेदना का अनुभव करते हुए प्रत्यक्ष देखकर भी ये स्वजन बन्धु लोग उसका प्रतीकार नहीं करते हैं।

भावार्थ—जब आत्मा पूर्वकाल मे सञ्चित कर्मों के फल स्वरूप शरीर-विकार-वेदना-जन्य दुःख प्राप्त करता है उस समय उसे प्राण-समान प्रिय मानने वाले बन्धु क्या उन दुःखों का निवारण कर सकते हैं? उनको तो उसे अकेले ही भोगना पड़ता है। तब हे आत्मन्! तुझे क्या करना चाहिए और तू क्या कर रहा है! जरा सोच। इस जन्म में और परजन्म मे तेरा हित करने वाला, तुझे दुःख से छुटकारा दिलाने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। जो हर हालत में सुख देता रहे वह धर्म ही है। इसे मत भूल। दूसरों के लिए अनर्थ करके व्यर्थ दुःखी मत बन।

तह मरइ एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवइ कोई।
भोगे भोत्तुं णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफलं ॥ १७४९ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—स्वकीय आयु का क्षय होने पर यह अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। इसका सहायक दूसरा कोई भी नहीं होता है। ये स्वजन बन्धु लोग सुख-भोग भोगने के लिए हैं, परन्तु कर्म फल भोगने के लिए ये बन्धु सहायक नहीं होते।

हे आत्मन्! इन बन्धुओं के प्रेम जाल में फँसकर जो तू अपने स्वरूप को ही भूल रहा है उनका स्वरूप तो समझ ले। अनेक सुख-भोग की सामग्री का जो तू सञ्चय करता है उसका सुखानुभव करने के निमित्त तो ये बन्धु आदि तेरे घनिष्ट सम्बन्धी बन जाते हैं; परन्तु जब तेरा मरण होने वाला होता है, तब उस मरण को अपने में बाँटकर क्या तेरी सहायता करते हैं? कभी नहीं करते। यदि मरण में विभाग करते तो तू अकेला ही कैसे मृत्यु का ग्रास होता? अनेकों का मरण एक साथ क्यों नहीं होता? इससे यह स्पष्ट है कि ये स्वार्थ के सगे और विपत्ति में दगा देने वाले वञ्चक (ठग) हैं।

प्रकारान्तर से एकत्व-भावना का स्वरूप

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होंति।
परलोगं अण्णेत्ता जदिवि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥ १७५० ॥ [भग. आ.]

अर्थ—परलोक में गमन करते हुए जीव के साथ उसके प्रिय बन्धु, धन, शरीरादि, जिनको कि परलोक में साथ ले जाने की उसकी बहुत उत्कण्ठा होती है, कोई भी नहीं जाते। इस जन्म में भी विपत्ति आने पर जब उक्त बन्धु आदि साथ छोड़कर अलग हो जाते हैं तो उनसे परलोक मे साथ रहने की तो आशा ही क्या की जा सकती है? अतः यह जीव सदा अकेला ही है-यह स्पष्ट है।

इह लोग बंधवा ते णियया ण परस्स होंति लोगस्स।
तह चेव धणं देहो संगा सयणासणादीयं ॥ १७५१ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—इस लोक मे जो बन्धु लोग हैं, उनका सम्बन्ध इस जन्म के साथ ही है, अर्थात् परजन्म के साथ नहीं है। धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह का सम्बन्ध भी पूर्वोक्त प्रकार का ही है। बल्कि बन्धु, धन, शयनासन आदि परिग्रह कभी कभी इस जन्म में भी जीव की सहायता नहीं करते प्रत्युत उसका अपकार करने में तत्पर हो जाते हैं, या इससे सर्वथा सम्बन्ध तोड़ देते हैं, तो वे इस जीव का उपकार परभव मे भी करेंगे—यह बात विश्वास करने योग्य कैसे हो सकती है?

बन्धु आदि जीव के उपकारक नहीं, बल्कि बन्धन के कारण हैं।

शरणमशरणं बन्धवो बन्धमूलं,
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।

विपरिमृशतँ पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः ॥ ६० ॥ [आत्मानु.]

अर्थ—शरण (घर) तेरा वास्तविक शरण (रक्षक) नहीं है। क्योंकि काल घर में भी आकर जीव को दबोच लेता है। बन्धु लोग पाप कर्म का बन्ध कराने में कारण होते हैं। क्योंकि यह जीव उनके मोह जाल में फँसकर उनके भरण-पोषण आदि के लिए अनेक पाप कर्म करता है। चिरकाल की परिचित (अनुभूत) पत्नी को सुख देने वाली समझना भी भ्रम है। वह भी पुरुष के अनेक आपत्ति रूप घर में प्रवेश करने का द्वार ही है। क्योंकि स्त्री के मोह से ही परमार्थ छोड़कर गृह-जाल में फँसकर अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। पुत्र भी शत्रु के समान होते हैं; क्योंकि जन्मते ही माता का यौवन और सौन्दर्य नष्ट करते हैं। बाल्यावस्था में माता पिता के सुख में विघ्न करते हैं। उनके पालन-पोषण आदि सुख साधनों के लिए माता-पिता को अनेक दुष्कर्म करके धन का अर्जन करना पड़ता है। इस पर भी यदि वह कुपथगामी निकल जावे तो माता पिता को जन्म भर का संताप उत्पन्न हो जाता है। अतः उसके सब कर्म शत्रु के समान दुःख दायक हैं। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू दुःख और संताप से बचना चाहता है और सुख की लालसा रखता है तो इन सब से अपना सम्बन्ध तोड़ दे और धर्म से प्रेम सम्बन्ध जोड़ ले। यही तेरा सच्चा साथी या मित्र है। कहा भी है—

जो पुण धम्मो जीवेण कदो सम्मत्तचरणसुदमइओ ।
सो परलोए जीवस्स होइ गुणकारकसहाओ ॥ १७५२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ–इस भव में जीव जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप धर्म का पालन करता है, वही परलोक में इस जीव का गुणकारक (सुखदायक) व सहायक होता है। अर्थात् धर्म, स्वर्गादि की प्राप्ति रूप अभ्युदय और निश्रेयस (मोक्ष) को देनेवाला व परलोक में उपकारी होता है।

धर्म की प्रशंसा में और भी कहा है—

दत्वा द्यावापृथिव्योर्वरविषयरतिं वीतभीशुग्विषादां
कृत्वा लोकत्रयीशं सुरनरपतिभिः प्राप्य पूजां विशिष्टाम् ।
मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविगमजरारोगशोकप्रहीणे,
मोक्षे नित्योरुसौख्ये क्षिपति निरुपमे यः सःनोऽव्यात् सुधर्मः ॥ [भग. आ. संस्कृत टीका १७५२]

अर्थ—यह धर्म भय, शोक और विषाद (दुःख) का विनाश कर स्वर्गसम्बन्धी एवं भूतलसम्बन्धी समस्त विषय-सुख को देता है। इसको पालन करने वाला जीव त्रिलोक का अधिपति होकर नरेन्द्रों और सुरेन्द्रों से विशेष पूजित होता है। इस धर्म के प्रसाद से जीव को जन्म, जरा-मरण, रोग, शोक, प्रिय-वियोग से रहित नित्य और सर्व श्रेष्ठ सुख से परिपूर्ण निरुपम मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार अपूर्व हितकारक रत्नत्रयरूप धर्म जिनेन्द्र हमारी रक्षा करें।

शंका—एकत्व भावना अर्थात् असहायत्व की भावना के प्रकरण में सहाय का निरूपण करना क्या उचित है ?

समाधान—यहाँ पर धर्म को सहायक बताकर अन्य वस्तु आदि को असहायक सिद्ध किया है। अतः इनमें उपकारकपने की बुद्धि का त्याग करने का उपदेश दिया गया है। क्योंकि संसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म ही आत्मा का असली उपकारक है। क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव है। जो जिसका स्वभाव होता है, वही उसका उपकार कर्त्ता हो सकता है। कर्म के निमित्त से संयोग को प्राप्त हुए बन्धु धनादि बाह्य पदार्थ आत्मा के स्वभाव नहीं हैं; किन्तु आत्मा की विकार अवस्था (कर्म विशिष्ट अवस्था) के निमित्त से ये (बन्धु आदि) पदार्थ उपलब्ध हुए हैं। जैसे जल का स्वभाव शीतल है, वह शान्ति का कर्त्ता है; किन्तु अग्नि के संयोग से उत्पन्न हुआ उष्णपना जल का विकृत भाव है। वह शान्ति का कर्त्ता नहीं होता, प्रत्युत शान्ति का नाशक होता है। वैसे ही धर्म आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा को शान्ति देने वाला है और बन्धु-धन आदि आत्मा के कर्म-जन्य विभाव भाव-रागद्वेषादि भाव-कर्म से प्राप्त हुए हैं, इसलिए ये आत्मा की शान्ति के नाशक होते हैं। अतः ये आत्मा के उपकारक नहीं हैं।

सम्यक्त्वादि आत्मा के शुभपरिणाम-प्रशस्तगति, प्रशस्तजाति, उच्चगोत्र, प्रशस्त-संघात, संहनन, आयु, सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों को आत्मा में उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। और इनके कारण यह आत्मा देव या मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है; पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, कुलीन, शुभ-नीरोग-शरीर का धारक, दीर्घकाल तक जीने वाला होता है और सुख का अनुभव करने वाला होता है। यह सब धर्मानुबन्धी पुण्य के उदय से उपलब्ध होते हैं। इस पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से भविष्य में दीक्षा-ग्रहण करने के परिणाम और निरतिचार रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। अतएव धर्म उपकार करने वाला मुख्य साधन है। इसलिए ज्ञानी धर्म में अनुराग करता है।

ज्ञानवान को शरीर और धनादि में अनुराग क्यों नहीं होता; इसको कहते हैं—

बद्धस्स बंधणे व ण रागो देहम्मि होई णाणिस्स ।
विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥ १७५३ ॥ [भग. आ.

अर्थ—जैसे रस्सी सांकल आदि बन्धन में बंधा हुआ मनुष्य बन्धन क्रिया के कारणभूत रस्सी आदि दुःख के देने वाले पदार्थों से प्रीति नहीं करता है, वैसे ही सुख दुःख के साधनों का जिसे पृथक् २ ज्ञान है, वह ज्ञानी मनुष्य दुःख के कारण, सारहीन, अस्थिर (नश्वर) और महा अपवित्र शरीर में राग नहीं करता है।' क्योंकि बुद्धिमान पुरुष गुण के पक्षपाती हुआ करते हैं।

जैसे विष दुःख का देने वाला है और प्राणों का विनाशक होता है, वैसे ही धन भी उसके उपार्जन, रक्षण आदि में लगे हुए मनुष्य को दुःख उत्पन्न करता है तथा प्राणों के विनाश में भी वह निमित्त होता है। क्योंकि संसार में प्रायः जितने नरसंहारक संग्राम होते हैं, वे धन के लिए ही होते हैं। इसलिए धन-सम्पत्ति महान भय के उत्पन्न करने वाले होने से महाभयानक हैं।

जो पदार्थ जिसका अनुपकार करने वाला होता है, उस पदार्थ में विवेकी पुरुष की सहाय बुद्धि नहीं होती है, जैसे कि विष कंटक आदि में नहीं होती है। शरीर धनादि भी आत्मा के अनुपकारी हैं; इसलिए विवेक-शील पुरुष को इसमें बारम्बार असहायता की भावना करनी चाहिए। अर्थात् ये कभी किसी के उपकारक नहीं हुए हैं। अतः मेरे ये उपकारक कैसे हो सकते हैं, इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिए।

अन्यत्व—भावना

अन्यत्व नाम भेद का है। संसार के समस्त पदार्थों से मेरा आत्मा सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार अभ्यास करने को अन्यत्व भावना कहते हैं।

अन्यत्व-नाम स्थापना, द्रव्य और भाव के आश्रय से चार प्रकार का है। आत्मा, जीव, प्राणी, यह भेद नाम की अपेक्षा से है। काष्ठ की प्रतिमा, प्रस्तर-प्रतिमा इत्यादि स्थापना से भेद हैं। जीव द्रव्य व अजीव द्रव्य यह द्रव्य से भेद है। एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य, देव इत्यादि भेद भाव की अपेक्षा से होता है।

जीव और कर्म का परस्पर बन्ध होकर दोनों का एकीभाव हो रहा है, तथापि लक्षण भेद से इनकी भिन्नता प्रतीत होती है। क्योंकि जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन है और पुद्गल का लक्षण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श है। इस प्रकार यह लक्षण कृत भेद होता है।

प्रत्येक समय में अनन्तानन्त कर्म परमाणु योग के निमित्त से आकर कषाय के कारण से जीव के प्रदेशों में एकमेक होकर ठहरते हैं और प्रति समय अनन्तानन्त कर्मपुद्गल जीव से पृथक् होते हैं, इस प्रकार बन्ध की अपेक्षा से भेद (अन्यत्व) होता है। औदारिकादि शरीर के कारण नोकर्मवर्गणा के नवीन पुद्गल आकर क्षीर-नीर के समान जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं और पुराने

प्र तत्क्षण निर्जरा को प्राप्त होते हैं।

जीव स्वयं औदारिकादि शरीरनामकर्म के उदय से औदारिकादि शरीर का निर्माण करके शरीर में स्थिति करता हुआ भी जैसे नख, रोम, दन्त, अस्थि आदि में नहीं रहता है, वैसे ही रस, रुधिर, चर्बी, शुक्र,वीर्य,कफ,पित्त,मल,मूत्र, मस्तिष्क आदि प्रदेशों में भी नहीं रहता है। इस प्रकार कर्म तथा शरीर के अवयवों से जीव का भेद होता है। अतएव परम ध्यानी पुरुष तपस्या व ध्यान द्वारा शरीर से पृथक् होकर अनन्त ज्ञानादि गुणों से विशिष्ट हुआ मोक्ष में अवस्थित होता है। उस मोक्षावस्था की प्राप्ति के लिए यह शरीर है। यह शरीर इन्द्रियगम्य है, मैं अतीन्द्रिय हूँ, अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर हूँ। यह शरीर अज्ञ (ज्ञान हीन) है और मैं ज्ञाता हूँ, ज्ञानस्वभाव वाला हुँ। यह शरीर अनित्य है। मैं नित्य हूँ। इस शरीर का आदि और अन्त है। मै आदि और अन्त से रहित हूँ। अनन्त काल संसार में भ्रमण करते हुए मैंने अनन्त शरीर ग्रहण कर छोड़ दिये हैं, मैं उनसे भिन्न रहने वाला हूँ। इस प्रकार शरीर से जब मेरा सर्वथा भेद है तब बाह्य परिग्रहों से भेद के विषय मे कहना ही क्या है ? इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। मूलाचार में कहा है—

माडुपिदुसयणसंबधिणो य सव्वे वि अत्तणो अण्णे।
इह लोग बंधवा ते ण य परलोगं समं णेंति ॥ १० ॥
अण्णो अण्णं सोयदि मदोत्ति मम णाहोत्ति मण्णंतो।
अत्ताणं ण दु सोयदि संसारमहण्णवे बुड्डं ॥ ११ ॥

अर्थ—माता, पिता, कुटुम्ब और परिवार के लोग व सगे सम्बन्धो सबही मुझ से अन्य हैं। इस भव के जो बन्धु लोग हैं, वे परभव में साथ नहीं जाते हैं, न इनका किया हुआ कृत्य मेरे साथ जाने वाला है।

यह मूढ़ आत्मा, हाय मेरा नाथ मर गया, मेरा बन्धु मरगया इत्यादि अन्य जन का तो सोच-चिन्ता करता है; और संसार रूप महासागर में गोते लगाते हुए, महा दुःख ज्वालाओं का आलिंगन करते हुए अपने आपका सोच नहीं करता है ?

भावार्थ—मोहनीय कर्म ने आत्मा के असली स्वरूप को भुलाकर पर पदार्थ में उसे इतना रत कर दिया है कि यह अज्ञानवश पर पदार्थों को ही आत्मा मान बैठा है; तथा उनको ही सुख दुःख का मुख्य साधन समझ रहा है। तबही तो अपना प्रिय बन्धु या मित्र जब काल के गाल में चला जाता है, तब अत्यन्त शोक संताप करने लगता है, किन्तु अपना आत्मा अनन्त काल से इस संसार समुद्र में डुबकियाँ लगा रहा है, कभी कभी गोता लगाकर नीचे जाता है तब नरक निगोद में जाकर जन्म धारण करता और वहाँ पर वचनागोचर एक श्वास

में १८ बार जन्म मरण के दुःख को तथा छेदन-भेदन मरण आदि के वचनातीत दुःखों का अनुभव करता है, और डुबकी लगाकर ऊपर आता है, तब तिर्यंच और मनुष्य भव के असह्य दुःखों को भोगता है। इन अपनी ही दुःख पूर्ण अवस्थाओं का सोच नहीं करता है। इसलिए हे आत्मन्! अब उस भ्रम को छोड़ दे, और माता, पिता, पुत्र, मित्र, कलत्रादि की आत्मा से सर्वथा भिन्न समझ। उनको दुःखित व मरणोन्मुख देखकर दुःख और शोक करना अज्ञानियों का कम है। कहा भी है :—

प्रीतिपूर्वं कृतं कर्म मनोवाक्कायकर्मभिः।
न निवारयितुं शक्यं संहतैस्त्रिदशैरपि ॥ [भग. आ. टीका १७५४]

अर्थ—जिस जीव ने मन वचन काय के द्वारा प्रीतिपूर्वक जो कर्म किया है, सब देव मिलकर भी उसका निवारण नहीं कर सकते, तब अन्य का क्या सामर्थ्य है जो उस कर्म का निराकरण कर सके।

शङ्का—पर-दुःख का निवारण करने के लिए जब कोई समर्थ नहीं हो सकता, तब किसी दुःखित जीव के दुःख के प्रतीकार का प्रयत्न करना व्यर्थ हुआ। किसी व्याधि-पीड़ित मनुष्य को औषधि देने एवं उसकी वैयावृत्य आदि दुःख दूर करने के जो उपाय किये जाते हैं, उनका भी निराकरण हुआ। किसी के दुःख के नाश के उपाय करने का भी निषेध हुआ। इस प्रकार आचरण करने से परस्पर में सहानुभूति व अनुकम्पा भाव का भी नाश हो जावेगा और कठोरता तथा निर्दयता का प्रचार होने लगेगा, जो कि धर्म भावना से विरुद्ध है।

समाधान—परदुःख के निवारण करने के लिए जो उचित प्रयत्न व उपाय किये जाते हैं, उनका निषेध नहीं किया गया है। निषेध तो इसका किया गया है कि यह मोही जीव परके दुःख व मरण आदि के निमित्त से आत्मा में शोक, दुःख और संताप करता है, यह उसकी मूर्खता है। उचित उपाय करते हुए जब दुःखादि दूर नहीं होते हैं, तो समझना चाहिए कि यह उनके पूर्वोपार्जित निकांचित बन्ध का परिणाम है। उनके निमित्त से अपनी आत्मा में दुःख और शोक करके शोक व दुःख के दाता मोहनीय कर्म का बन्ध करना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? दुःखादि के निवारण का प्रयत्न करना दूसरी बात है और उनमें ममत्व परिणाम करके दुःख शोक का अनुभव करना दूसरी बात है।

संसार में कौन किसका हुआ है? कोई किसी का सम्बन्धी नहीं है। कहा है—

संसारम्मि अणंते सगेण कम्मेण हरिमाणाणं।
को कस्स होइ सयणो सज्जइ मोहा जणम्मि जणो ॥ १७५५ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—यह संसार पाँच प्रकार के परिवर्तनों से युक्त है और अनन्त है। इसमें अनादि काल से मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद आदि आत्मा के परिणामों से उपार्जित कर्म पुद्गलों से बन्धे हुए जीव अनेक प्रकार की गतियों में भ्रमण करते रहते हैं—ऐसी हालत में कौन किसका नियत कुटुम्बी हो सकता है? यदि कोई निश्चित सम्बन्ध होता तो, 'यह स्वजन है और यह परजन है' ऐसा विभाग हो सकता था; किन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म से परतन्त्र हुए जीव के जो आज स्वजन है वे परभव में परजन हो जाते हैं। इसलिए इस संसार में न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन है, यह सब जीव राशि भिन्न-भिन्न मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा अनेक अवस्थाओं का अनुभव करती हुई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। ऐसा चिन्तन करने वाले ज्ञानी जीव के किसी पर दया व प्रेम नहीं होता है और न किसी पर निर्दयता व द्वेष उत्पन्न होता है। अर्थात् इम विषम भाव के न होने पर साम्यभाव प्रकट होता है। राग-द्वेष के अभाव से आत्मा में निर्विकल्पक ध्यान प्रादुर्भूत होता है। क्योंकि मोह से यह जीव मेरा यह भाई, है यह पिता है, पुत्र है, भानजा है, यह मेरा दास है, यह मेरा स्वामी है, इस प्रकार अन्यजनों पर आसक्ति करता है। भेद ज्ञान न होने से मैं इनसे भिन्न हूं और ये मुझ से पृथक् हैं ऐसा विचार उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करने वाले भेदज्ञानी-आत्मा के स्वपर का विवेक ज्ञान होने से किसी पर रागद्वेष नहीं होता है और सहज ही में निर्विकल्प समाधि उत्पन्न होती है।

प्रकारान्तर से स्वजन और परजन के भेदभाव को दिखाते हैं—

सव्वोवि जणो सयणो सव्वस्स वि आसि तीदकालम्मि।
पंते य तहाकाले होहिदि सँजणो जणस्स जणो ॥ १७५६ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—भूतकाल में सब जीव सब जीवों के स्वजन (कुटुम्बी) बन चुके होंगे और भविष्य काल में सब जीव सबके स्वजन बनेंगे। ऐसी अवस्था में किसी एक को को स्वजन मान लेना मिथ्या संकल्प है। वे सब जीव मुझ से अन्य (भिन्न) हैं और मैं भी उनसे अन्य (भिन्न) हूँ, ऐसा समझना ही वास्तविकता है।

इस जगत् के सब प्राणी बालुका के कणों के समान परस्पर भिन्न २ हैं। जैसे बालुका के कणों का संयोग, जलादि द्रव पदार्थ के मिलने से होता है, जब उस द्रव पदार्थ का रस सूख जाता है, तब वे भी अलग २ होकर बिखर जाते हैं; उसी प्रकार बन्धु लोग कार्य-सिद्धि के उद्देश्य से ही सम्बन्ध को प्राप्त हुए हैं, कार्य-सिद्धि के पश्चात् सब पृथक् पृथक् हो जाते हैं।

आशय यह है कि जगत् में कार्य के उद्देश्य से स्वजन व परिजन का विभाग होता है। उपकार से मित्रता और अपकार से

शत्रुता है।

यहाँ कोई किसी का स्वाभाविक मित्र व शत्रु नहीं होता। प्रतिकूल व्यवहार से शत्रु बन गया है, उसके साथ उपकार का वर्त्ताव करने से वह पुनः मित्र बन जाता है। जो प्राणों का घातक बन बैठा था, उपकार रूपी मंत्र से उसका स्वभाव बदल जाता है और वही प्राणों की रक्षा करता हुआ देखा जाता है। तथा जो स्वभावतः प्रिय होता है, ऐसे पुत्र पर भी अपकार रूपी विष का प्रयोग होने पर वही प्राण संहारक शत्रु बन बैठता है। उपकार और अपकार क्रियाएँ हमेशा एकसी नहीं रहती हैं। अतः उनके निमित्त से होने वाला बन्धु-भाव और शत्रु-भाव भी एकसा नहीं रहता है। इसलिए किसी पर राग-द्वेष कभी नहीं करना चाहिए। बल्कि शत्रु, मित्र, स्वजन, परिजन आदि का वास्तव में अपने से कोई सम्बन्ध न समझ कर उनसे मोह हटा लेना चाहिए और संसार के सब सम्बन्धों को स्वार्थ-मूलक समझ कर अन्यत्व-भावना दृढ करनी चाहिए। अन्यथा शत्रु, मित्र आदि की कल्पना कर प्राणी अपने आपको भूलेगा तो कभी अपना हित-साधन न कर सकेगा। क्योंकि अज्ञानी प्राणी को अपने सच्चे शत्रु और मित्रो की भी तो परख नहीं। कहा है :—

शत्रु व मित्र कौन है ?

जो जस्स वट्टदि हिदे पुरिसो सो तस्स बन्धवो होदि।
जो जस्स कुणदि अहिदं सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥ १७६२ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—जो मनुष्य जिसके हितकार्यं में प्रवृत्ति करता है वह उसका बन्धु व मित्र माना जाता है और जो मनुष्य जिसके अहितकार्यं में प्रवृत्ति करता है वह उसका शत्रु कहा जाता है। अर्थात् हित करने वाले को बन्धु और अहित करने वाले को शत्रु कहते हैं। इसलिए हे आत्मन्! जिनको तूने अपना बन्धु समझ रखा है, वे वास्तव में तेरे शत्रु हैं; क्योंकि वे अभ्युदय (स्वर्गादि की प्राप्ति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति के कारण धर्म में विघ्न करने वाले हैं। और तीव्र दुःख के कारण हिंसा असत्यादि असंयम को भी तुझ से वे ही करवाते हैं।

तात्पर्यं यह है कि जिसकी आराधना करने से अष्ट कर्मों का नाश होकर सुख शान्ति के देने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है और सांसारिक उत्कृष्ट सुख के कारण अहमिन्द्रादि पद की उपलब्धि होती है, उस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र (रत्नत्रय) रूप धर्म के धारण करने मे बन्धुगण विघ्न बाधाएँ उपस्थित करते हैं। अर्थात् अनुपम सुख के कारणभूत धर्म का पालन करने मे बाधक ही नहीं होते; अपितु आत्मा को नरक और निगोद के असीम दुःखो के कारण हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों को भी वे ही करवाते हैं और नरकादि के घोर दुःखो से उद्धार करने वाले धर्म में ये बन्धु विघ्न करते हैं। इसलिए ये बन्धु तेरे मित्र नहीं, भयानक शत्रु हैं। क्योंकि हित में बाधा करने वाले और अहित में सहायता करने वाले शत्रु ही होते हैं।

सं. प्र.

पू. कि. ४

तम्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहहेदू ।
संसारमदीणंता णीया य णरस्स होंति अरी ॥ १७६७ ॥ [भग. आ.]

अर्थ—सत्पुरुष प्राणियों को हित मार्ग मे लगाते हैं; तथा स्वर्गादि में इन्द्रिय-सुख व मोक्ष सम्बन्धी अतीन्द्रिय-सुख की प्राप्ति कराने में कारण होते हैं; इसलिए वे ही असली वन्धु है। परन्तु जो पुत्र, मित्र, भ्रातादि वन्धु हैं,वे अनेक दुःखों से व्याप्त अपार संसार समुद्र में डुबोते हैं; इसलिए वे बन्धु बन्धु नहीं किन्तु शत्रु ही हैं।

इस गाथा से अपने से भिन्न जो सत्पुरुष हैं, उन्हें सच्चे वन्धु और अपने से भिन्न जो पुत्र, भ्राता आदि वान्धव हैं, उन्हें असली शत्रु वतलाया है। इससे सत्पुरुषों के धर्मोपदेश मे अनुराग और आदर भाव उत्पन्न होता है और वन्धुओं में अप्रीति व अनादरभाव पैदा होता है। क्योंकि सत्पुरुष इस लोक के सम्पूर्ण उत्तम से उत्तम इन्द्रिय-जन्य सुख को देने वाले और अतीन्द्रिय अनुपम निराबाध मोक्ष के नित्य सुख को देने वाले हैं एवं धर्म के मार्ग पर लगाते हैं और ये वन्धु लोग मनोवांछित सुख को देने वाले, रत्नत्रय रूप धर्म का पालन करने में बाधा उपस्थित करते हैं। संसार-वर्धक हिंसादि जनक आरम्भादि क्रियाओं मे जीवों को प्रवृत्त करते हैं। अतः सत्पुरुषों को उपकारी समझ कर उनमे आदर बुद्धि करना और स्वजन आदि के सम्बन्ध को अहित रूप समझ कर उनमे अनादर बुद्धि करना यही अन्यत्वानुप्रेक्षा का फल है।

संसारानपेक्षा

अब संसारानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए संसार का स्वरूप वर्णन करते हैं।

संसार का स्वरूप

मिच्छत्तेणा छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदि भमिकुडिले जीवो संसारकंतारे ॥ १२ ॥ [मूला. द्वा. अ.]

अर्थ—मिथ्यात्व रूप अन्धकार से आच्छन्न (ढ़का हुआ) यह आत्मा जिनेन्द्र भगवान् द्वारा दिखलाये गये मोक्ष मार्ग को नहीं देखता हुआ अज्ञानवश भयानक तथा मोहलतादि से अत्यन्त गहन संसार रूप बीहड़ वन में निरन्तर भ्रमण करता है।

भावार्थ—जीवों की अवस्था चार प्रकार की हैं-१ संसार २ असंसार, ३ नो संसार, ४ तन्नितय व्यपाय (उक्त तीनों अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष)

[१] संसार—चौरासी लाख योनियों के भेदवाली नरकादि चारों गतियो में परिभ्रमण करने को संसार कहते हैं।

[२] असंसार—मोक्षपद में परम अमृत रूप दिव्य-सुख में प्रतिष्ठित होजाने को असंसार (संसार का अभाव) कहते हैं।

[३] नो संसार (ईषत् संसार)—तेरहवें गुणस्थान में विराजमान सयोगकेवली (अरिहंत) भगवान् के चतुर्गति रूप, संसार में परिभ्रमण का अभाव है अतः उनके संसार नहीं है। तथा संसार के अन्त (मुक्ति) की प्राप्ति नहीं हुई है; अतः असंसार भी नहीं इसलिए उनके ईषत् संसार को नो संसार कहते हैं।

[४] तत्त्रितयव्यपाय-उक्त तीनों अवस्थाओं की निवृत्ति रूप अवस्था विशेष—अयोगकेवली की अवस्था-को तत्त्रियव्यपायरूप अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में उक्त तीनों अवस्थाओं का अभाव पाया जाता है; क्योंकि अयोगकेवली के भव भ्रमण का अभाव होने से, संसार अवस्था नहीं है। सयोगकेवली के समान इनके आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्द (चञ्चलपना) नहीं होने से ईषत्संसार रूप नोसंसार भी नहीं है। तथा संसार का अन्त (मोक्ष) प्राप्त नहीं होने से उनके असंसार भी नहीं है। इन तीनों अवस्थाओं से अतिरिक्त यह एक चौथी ही अवस्था है।

शरीर का परिस्पन्द (हिलन-चलन) न होने पर भी समस्त प्राणियो के निरन्तर आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (कम्पन) होता है; इसलिये उनके सदा संसार माना गया है; किन्तु सिद्धों के व अयोग केवलियों के आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्द नहीं होता है। क्योंकि उनके आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्द की कारणभूत कर्म-सामग्री का अभाव है। इन दोनो के अतिरिक्त जीवों के तीन अवस्थाएँ होती हैं; जिनका निरूपण ऊपर कर आये हैं।

वह संसार अभव्य जीवो की अपेक्षा अनादि और अनन्त है। भव्य-सामान्य की अपेक्षा अनादि और सान्त है। भव्य विशेष (सम्यग्दृष्टि) की अपेक्षा से संसार सादि-सान्त है। क्योंकि अनादिकाल से जो मिथ्यात्वसहित संसार था, उसका सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर नाश हो जाने से सम्यक्त्व सहित संसार की आदि हुई है, और इसका अन्त होने वाला है। इसलिए इसे सादि सान्त कहा है।

असंसार सादि और सान्त है। अर्थात् मोक्ष अवस्था आदि सहित और अन्त रहित है।

तत्त्रितयव्यपाय (अयोगकेवली की अवस्था) का काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है। अर्थात् अ इ उ ऋ ऌ इन पांच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतने काल पर्यन्त अयोगकेवली अवस्था रहती है। उसके अनन्तर मोक्ष हो जाता है।

नो संसार (ईषत् संसार) का काल अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष कम पूर्वकोटि मात्र है। अर्थात् पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला

चतुर्थ काल का जीव आठ वर्ष के अनन्तर तपस्या ग्रहण करके केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है। इसलिए अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष हीन पूर्व-कोटिवर्ष पर्यन्त सयोगकेवली अवस्था रह सकती है। अतः नोसंसार सादि सान्त है।

सादि-सान्त—संसार का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल अर्धपुद्गलपरावर्त्तन मात्र है। जो जीव अनादिकाल से मिथ्यादृष्टि था उसने काललब्धि आदि के योग से सम्यक्त्व का ग्रहण किया, तब उसके सम्यक्त्व सहित संसार का आदि हुआ। वह संयम धारण कर अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करले तो उसके संसार का काल अन्तर्मुहूर्तमात्र हुआ और वह सम्यक्त्व से च्युत होजावे और संसार में अधिक से अधिक रहे तो अर्धपुद्गलपरावर्त्तनकाल तक रह सकता है, उसके अनन्तर उसका मोक्ष अवश्यंभावी है।

वह ससार, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव की अपेक्षा से पांच प्रकार का होता है।

मूलाचार की मूलगाथा मे चार प्रकार के (द्रव्य क्षेत्र काल भाव) परिवर्त्तन का निरूपण है; परन्तु संस्कृत टीकाकार ने पांचों परिवर्त्तनों का ग्रहण किया है। इसी प्रकार भगवतीआराधना मे भी मूलाचार के समान चार परिवर्त्तनों का ही विधान है। परन्तु संस्कृत टीकाकारों ने अन्य शास्त्रों के उद्धरण देकर भव-परिवर्त्तन को भी ग्रहण किया है। क्रमशः उक्त ग्रन्थों की गाथाओं को नीचे दिखाते हैं।

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयोरहिं णादव्वो ॥ १४ ॥ [मूला.]

अर्थ—नरकादि चारगतियों मे गमन कराने का कारणभूत संसार (परिवर्त्तन) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस तरह चार प्रकार का तथा आगे कहे गये छह सात आदि प्रकार का जानना चाहिए।

द्रव्य—परिवर्त्तन

अण्णं गिण्हदि देहं तं पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्णं।
घडिजंतं व य जीवो भमदि इमो दव्वसंसारे ॥ १७७३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जिस प्रकार कूप में लगा हुआ घटीयंत्र (अरघट) भ्रमण करता हुआ पहले ग्रहण किये हुए जल का त्याग करता है और अन्य जल का ग्रहण करता है उसी प्रकार संसार कूप मे पड़ा हुआ यह प्राणी पूर्व ग्रहण किये हुए शरीर को छोड़ता और दूसरे शरीर

को धारण करता है, इस प्रकार भिन्न २ शरीरों का ग्रहण और त्याग करता हुआ यह जीव अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण कर रहा है। अनेक प्रकार के शरीरों के ग्रहण करने को ही द्रव्य-परिवर्तन कहते हैं।

भावार्थ—एक शरीर का ग्रहण कर, आयु पूर्ण करके उसे छोड़ दूसरे शरीर का ग्रहण करना और उसे भी छोड़ तीसरे शरीर का ग्रहण करना-इसी प्रकार निरन्तर शरीर के ग्रहण और त्याग करने को द्रव्य-परिवर्त्तन कहते हैं।

द्रव्य परिवर्त्तन दो प्रकार का है–१ नोकर्मद्रव्य-परिवर्त्तन और कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन।

१ नोकर्मद्रव्य-परिवर्त्तन—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक) तथा छह पर्याप्ति (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन) के योग्य जो पुद्गल हैं वे तीव्र-मन्द-मध्यम भावो से युक्त स्पर्श (स्निग्ध रूक्ष) वर्ण, गन्ध आदि रूप जैसे थे वैसे ग्रहण किये और दूसरे तीसरे आदि समय मे वे निर्जरा को प्राप्त हुए। जिनका ग्रहण पहले नहीं किया था, ऐसे पूर्वोक्त पुद्गलों का अनन्त बार ग्रहण किया और त्याग किया तथा मिश्र (गृहीत और अगृहीत मिले हुए) पुद्गलों का अनन्तबार ग्रहण और त्याग किया। बीच बीच में गृहीत पुद्गलों का भी ग्रहण व त्याग किया। काल पाकर पूर्व समय में जिन पुद्गलों को ग्रहण किया था उन्हीं को उसी प्रकार (तीव्र-मन्द-मध्यम भावों द्वारा स्निग्ध, रूक्ष वर्णादि रूप) वही जीव जितने काल में नोकर्म रूप से ग्रहण करता है, उतने काल को नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तन कहते हैं।

कर्म-द्रव्य-परिवर्त्तन—किसी जीव ने एक समय में ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप पुद्गल तीव्रादि भाव से युक्त स्निग्धरूक्षादि स्वरूप ग्रहण किये। एक समय अधिक एक आवली के अनन्तर द्वितीय आदि समय में उनकी निर्जरा हुई। अनन्तबार अगृहीत कर्म पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। मिश्र (गृहीत व अगृहीत मिले हुए) कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। मध्य में गृहीत कर्म-पुद्गलों का ग्रहण कर निर्जरा की। इस प्रकार काल पाकर उन्हीं कर्म-पुद्गलपरमाणुओं का, जिनका पहले समय में जिस प्रकार ग्रहण किया था—ग्रहण जितने काल में हो जावे उतने काल को कर्मद्रव्य—परिवर्त्तन कहते हैं। वही कहा है—

सव्वे वि पुग्गला खलु कमसो भुत्तुज्झिया य जीवेण।
असइं अर्णतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे। (टीका. भग. आ. १७७१)

इसका आशय ऊपर आगया है।

जैसे—रङ्ग-भूमि (नाटकघर)में आकर नट नाना प्रकार की आकृति रंग व स्वभाव को धारण करता और छोड़ देता है, वैसे ही द्रव्य संसार में भ्रमण करनेवाला यह जीव नाना प्रकार की आकृति, वर्ण और स्वभाव को बार बार धारण करता और छोड़ता रहता है।

क्षेत्र संसार

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणंतसो चेव ।
काले तीदम्मि इमो ण सो पदेसो जए अत्थि ॥ १७७५ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—इस लोक-क्षेत्र मे ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा है, जहां पर यह जीव भूत काल में अनन्त बार नहीं जन्मा हो और न मरा हो।

सव्वम्मि लोयखित्ते कमसो तं णत्थि जम्म उप्पण्णं ।
ओगाहणा य बहुसो परिभमिदो खित्तसंसारे ॥ १७७६ ॥ (भग. आ.)

भावार्थ—सबसे जघन्य शरीरवाला लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्मनिगोदिया जीव लोक के आठ मध्य-प्रदेशों को अपने शरीर के प्रदेशो के मध्य में करके उत्पन्न हुआ, और क्षुद्र भव ग्रहण से जीकर मर गया, उसी क्षेत्र में वह जीव अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनी बार जन्म लेकर मरण करता रहा है। उसके पश्चात् एक एक अधिक बढ़ाते हुए उस जीवने सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र को अपना जन्मक्षेत्र बना लिया। इसमें जितना काल लगता है उतने काल को क्षेत्र-परिवर्तन कहते हैं।

ऐसे क्षेत्र—परिवर्तन इस जीव ने अनन्त किये हैं। सम्पूर्ण लोक-क्षेत्र मे ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां यह जीव अनेक अवगाहना धारण करके नहीं उत्पन्न हुआ हो। अर्थात् अनन्त बार प्रत्येक क्षेत्र मे जन्म मरण कर चुका है।

काल परिवर्त्तन

उक्कोलतदाकालसमएसु जीवो अणंतसो चेव ।
जादो मदो य सव्वेसु इमो तीदम्मि कालम्मि ॥ १७७७ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय हैं उन प्रत्येक में यह जीव अनन्त बार भूतकाल में जन्म मरण कर चुका है।

उस्सप्पिणि-अवसप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मदो य बहुसो भमणेण दु कालसंसारे ॥ १७७८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सम्पूर्ण समय की पंक्तियों में अनेक भव धारण करके बहुत बार जन्म मरण [illegible] है। [illegible] संसार रहते हैं।

भावार्थ—किसी जीव ने उत्सर्पिणी के प्रथम समय में जन्म लिया और अपनी आयु के क्षय होने पर मरण किया। फिर [illegible] जीव ने उत्सर्पिणी के दूसरे समय में जन्म लिया और स्वकीय आयु के समाप्त होने पर मरण किया। वही जीव पुनः तृतीय उत्सर्पिणी के [illegible] समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से उस जीव ने सम्पूर्ण उत्सर्पिणी के [illegible] समयों में यथाक्रम जन्म धारण किये और आयु की समाप्ति होने पर मरता रहा। इसी प्रकार अवसर्पिणी के प्रथम समय से लेकर [illegible] के अन्तिम समय पर्यन्त जन्म धारण करके स्व आयु के समाप्त होने पर मरण करता रहा। इस प्रकार निरन्तर जन्म कहे गये हैं। [illegible] ने क्रम भंग करके जन्म धारण किये, उनकी गिनती इनमें नहीं होती है। जिस प्रकार जन्म का क्रम दिखलाया गया, मरण का क्रम भी [illegible] निरन्तर (अन्तर रहित) समझना चाहिए। इन जन्म और मरणों में जितना काल लगता है, उसे काल परिवर्त्तन कहते हैं।

क्षेत्र–परिवर्तन

आत्मा के प्रदेशरूपक्षेत्र में आत्मा के प्रदेशों का समरण क्षेत्रपरिवर्त्तन है।

अट्ठपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु।
तत्तंमि व अद्दहणं उव्वत्तपरत्तणं कुणदि ॥ १७७९ ॥ (भग. आ)

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी।
उद्वर्त्तनपरावर्त्तं गंतप्तेष्विव तंदुलाः ॥ १८४८ ॥ (टीका. भग. आ.)

अर्थ—रुचकाकार जो आत्मा के मध्य के आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर शेष सब प्रदेशों में यह जीव उद्वर्तन और परावर्तन करता रहता है। अदहन में (उकलते हुए जल में) जिस प्रकार चावल ऊँचे-नीचे होते रहते हैं उसी प्रकार गोस्तनाकार आठ

प्रदेशों के अतिरिक्त आत्मा के सब प्रदेश ऊपर नीचे, ऊपर नीचे हुआ करते हैं अर्थात् उनमें स्पन्दन (चलनात्मक) क्रिया होती रहती है।

भाव संसार

लोगागास-पएसा असंखगुणिदा हवंति जावदिया ।
तावदियाणि हु अज्झवसाणाणि इमस्स जीवस्स ॥ १७८० ॥ (भग. आ.)

अर्थ—लोक के असंख्यात प्रदेशों को असंख्यात से गुणित करने पर जितनी संख्या होती है, उतने एक जीव के अध्यवसाय स्थान होते हैं।

भावस्थानान्तराण्येवं देहवान् स प्रपद्यते ।
कर्कंटुको यथानित्यं वर्णान् स्वीकुरुते बहून् ॥
अज्झवसाणठाणंतराणि जीवो विकुव्वइ इमो हु ।
णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥ १७८१ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—शरट (गिरगिट कर्कोटिया) जैसे अनेक रंग बदलता रहता है, वैसे ही इस संसारी जीव के अध्यवसायों (भावों) में निरप्रति परिवर्त्तन (परिणमन) होता रहता है। इसको भाव परिवर्त्तन कहते हैं।

भाव परिवर्त्तन का विस्तार पूर्वक निरूपण

पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि किसी जीव ने अपने योग्य ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति की सबसे जघन्य अन्तः कोडा-कोडी (अन्तः कोटि कोटि) सागर की स्थिति बांधी। उस जीव के उस स्थिति के योग्य कषाय-अध्यवसायस्थान (आत्म परिणाम विशेष) षट्स्थानपतित (अनन्त भागादि वृद्धि व हानिरूप) असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं। उन कषायाध्यवसाय स्थानों में जो सर्व जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान है, उसके निमित्तभूत अनुभागाध्यवसायस्थान भी असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं। इस प्रकार सर्वजघन्य स्थिति तथा सर्वजघन्य कषायाध्यवसायस्थान और सर्वजघन्य ही अनुभागाध्यवसायस्थान को प्राप्त हुए जीव के उनके योग्य सर्वजघन्य एक योगस्थान होता है। उसी स्थिति, उसी कषायाध्यवसाय व उसी अनुभागाध्यवसायस्थान के लिए असंख्यातवृद्धियुक्त दूसरा योगस्थान होता है। तथा तृतीय चतुर्थ

आदि चारस्थान पतित हानि वृद्धिरूप असंख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि,संख्यातगुणवृद्धि,असंख्यातगुणवृद्धि तथा असंख्यातभागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानिरूप) श्रेणी के असंख्यात भाग प्रमाण योगस्थान होते है। जब श्रेणी के असख्यात भाग प्रमाण सब योगस्थान एक बार होजाते हैं, तब वही पूर्वोक्त स्थिति और वही पूर्वोक्त कषायाध्यवसायस्थान होता है, और अनुभागाध्यवसाय स्थान का प्रथमस्थान बदलकर द्वितीयस्थान हो जाता है। इस तरह एक २ बार श्रेणी के असंख्यातभाग प्रमाण योग-स्थान होजाने पर अनुभागाध्यवसायस्थान का एक २ स्थान बदलते बदलते जब असंख्यात लोक प्रमित अनुभागाध्यवसायस्थान बदल जाते हैं तब स्थिति तो वही पूर्वोक्त रहती है और कषायाध्यवसाय का प्रथम स्थान बदलकर द्वितीय स्थान हो जाता है। इस द्वितीय स्थान के लिए पूर्वोक्त असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। अर्थात् एक एक अनुभागाध्यवसाय स्थान के निमित्त श्रेणी के असंख्यातभाग असंख्यातभाग प्रमाण योगस्थान होते हैं। और एक एक कषायाध्यवसायस्थान के निमित्त असंख्यातलोकप्रमाण असख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं।

इस प्रकार पूर्व की भांति एक एक बार सम्पूर्ण असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थानों के होने पर कषायाध्यवसाय स्थान का एक एक स्थान बदलते बदलते जब वे असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थान एक बार हो जाते हैं तब पूर्वोक्त सर्वजघन्य स्थिति में एक समय की वृद्धि होती है। इसी क्रम से स्थिति में एक एक समय की वृद्धि होते २ ज्ञानावरण की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस कोडाकोडी सागर की पूर्ण होती है। कषायाध्यवसायादि स्थानों का परिवर्त्तन पूर्व की तरह समझलेना चाहिए।

इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों की मूलप्रकृतियो व उत्तर प्रकृतियों के परिवर्त्तन का क्रम जान लेना चाहिए। उक्त सम्पूर्ण मूलोत्तर कर्म-प्रकृतियों की जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्टस्थिति तक परिवर्त्तन क्रम में जितना काल लगता है, उतने काल को भाव परिवर्त्तन कहते हैं। वही कहा है :—

सव्वा पयडिठिदीओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि ।
मिच्छत्तसंसिदेण य भमिदा पुण भावसंसारे ॥ (भग. आ. टीका १७८१)

अर्थ—मिथ्यात्व के वशीभूत हुए इस जीव ने सम्पूर्ण कर्मों के प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, अनुभागबन्ध और स्थितिबन्ध के योग्य आत्मा के अध्यवसायो को धारण करके संसार मे परिभ्रमण किया है, इसे भाव संसार कहते हैं। ऐसे भाव संसार भी इस जीव ने अनन्त बार धारण किये हैं।

भवसंसार

एगविगतिगचउपंचिंदियाण जाओ हवंति जोणीओ ।
सव्वाउ ताउ पत्तो अणंतखुत्तो इमो जीवो ॥ १७७२ ॥ भग. आ.

अर्थ—नाम कर्म के गति, जाति आदि अनेक भेद माने हैं। उसमें जाति कर्म के पांच भेद हैं। जाति कर्म के उदय से एकेन्द्रिय आदि जीवों के जो आश्रय हैं, यहां उनको योनि माना है। सचित्त अचित्तादि चौरासी लाख भेद जो आगम में अन्यत्र वर्णन किये गये हैं, उनका यहां ग्रहण नहीं किया है। यहां पर एकेन्द्रियादि के आश्रयभूत जो बत्तीस पर्यायें हैं उनका योनि शब्द से ग्रहण किया गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कायिक जीवों में से प्रत्येक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार चार भेद होते हैं। वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद हैं-साधारण और प्रत्येक। इनमें से साधारण वनस्पति कायिक के बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे चार भेद होते हैं। प्रत्येक वनस्पतिकायिकजीव बादर ही होते हैं, और उनके पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। इस प्रकार एकेन्द्रिय स्थावर जीवों के बाईस भेद हुए। तथा त्रसकाय के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय संज्ञी और पंचेन्द्रिय असंज्ञी ये पांच भेद होते हैं और इनमें प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो दो भेद होने से दस भेद हुए। इस प्रकार सब मिल कर बत्तीस भेद हुए। इनमें जन्म धारण करते रहने को भव परिवर्तन कहते हैं।

दूसरे आचार्यों के मत से भव-परिवर्त्तन का स्वरूप निम्न प्रकार है:—

णिरयादिजहण्णादिसु जावदु उवरिल्लियादु गेवेज्जा ।
मिच्छत्तसंसिदेण दु भवठिदी भज्जिदा बहुसो ॥ (टीका. भग.)

अर्थात्—नरकगति मे जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है, उस आयु को धारण करके किसी ने वहाँ जन्म लिया और आयु पूर्ण होने पर संसार में परिभ्रमण कर पुनः पूर्वोक्त आयु धारण कर वही जीव उसी नरक में जन्मा और आयु की समाप्ति के अनन्तर संसार में अन्य २ पर्यायें धारण करता रहा। पुनः उसी आयु से उसी नरक मे दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं, उतनी बार जन्म धारण करके मरण करता रहा। उसके पश्चात् एक समय अधिक दशहजार वर्ष की आयु धारण कर उसी नरक मे उत्पन्न हुआ और मरा। इसी प्रकार एक एक समय अधिक की आयु धारण करते और मरते हुए उस जीवने नरक में तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयुस्थिति समाप्त की। उसमे असंख्यात बार जन्म मरण हुए।

सं, प्र.

पू. कि. ४

पू. कि. ४

तत्पश्चात् यह जीव सातवें नरक से निकलकर तिर्यंचगति में उत्पन्न होकर सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की आयु का धारक हुवा और अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार उसी पर्याय में पूर्व की भाँति जन्म मरण करता रहा। इसके बाद एक एक समय अधिक की आयु धारण करते हुए पूर्वोक्त क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तदनन्तर वहाँ से निकलकर वह जीव मनुष्यगति में आया और वहाँ भी तिर्यंचगति के समान सर्वजघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की आयु का धारक मनुष्य हुआ। अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं, उतनी बार उतनी आयु की मनुष्य पर्याय धारण करके मरता रहा। तत्पश्चात् एक समय अधिक के क्रमसे उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु समाप्त की।

तत्पश्चात् वहाँ से निकलकर देवगति में उत्पन्न हुआ। वहाँ पर भी नरक के समान सर्वजघन्य आयु दश हजार वर्ष की धारण करके दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी बार उसी पर्याय में जन्म मरण करता रहा। उसके अनन्तर एक समय अधिक के क्रम से इकतीस सागर तक की आयु समाप्त की। क्योंकि नवग्रैवेयक तक ही मिथ्यादृष्टि का गमन है। आगे अहमिन्द्र सब नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के योग से नरक गति की जघन्य आयु से लेकर उत्कृष्ट आयु तथा इसी प्रकार तिर्यंच गति, मनुष्यगति और देवगति के उपरिम नवें ग्रैवेयक तक बहुत बार पर्याय धारण करते भवपरिवर्त्तन करता रहा है। अर्थात् इस जीव ने मिथ्यात्व के वश में होकर उक्त भव-परिवर्त्तन अनन्त बार किये हैं।

इस संसार में इस जीव को सब से भय लगा रहता है, किसी जगह भी सुख-शान्ति नहीं मिलती।

आगासम्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी।
हिंसंति एक्कमेक्कं सव्वत्थ भयं खु संसारे ॥ १७८२ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—जब यह जीव कर्म-योग से पक्षी की पर्याय में जन्म लेता है, और आकाश में स्वच्छन्दवृत्ति से विहार करता है, तब श्येन (बाज) आदि विरोधी पक्षी उसे सताते हैं। जब जलचर जीवों में जन्म धारण करता है तब छोटे मच्छों को महामत्स्य भक्षण करते हैं। जब थलचर मृगादि पशु होता है, तब सिंह, व्याघ्रादि हिंसक पशुओं से भक्षण किया जाता है, अर्थात संसार में एक दूसरे की हिंसा करने में जीव तत्पर रहते हैं। संसार में सर्वत्र भय लगा हुआ है। कहीं पर भी सुख व शान्ति नहीं दिखाई देती है।

ससउ वाहपरद्धो विलत्ति णाऊण अजगरस्स मुहं।
सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥ १७८३ ॥ (भग. आ.)

अर्थ--व्याध (शिकारी) के भय से भगा हुआ शशक (खरगोश) अजगर के मुख को बिल समझकर उसको शरण (रक्षा का उपाय) मानकर उसमे जैसे प्रवेश करता है, वैसे ही यह जीव काल के मुंह में प्रविष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि यह जीव इस संसार में जिसको शरण समझता है, वही इसका घातक होता है। प्रत्येक जीव काल के मुख के निकट निवास करता है। अवसर पाते ही उसके मुख मे पहुच जाता है। अतः धर्म ही इस जीव का शरण है, इस भव और परभव मे सुख और शान्ति का देनेवाला है। किन्तु अज्ञानी प्राणी मोहनीयकर्म के उदय से धर्म से विमुख होकर क्षुधा-तृषादि रूपी व्याधों से पीड़ित हुआ उनसे बचने के लिए भयानक दुख के देनेवाले संसार-रूप भुजंग (कालेनाग) के मुख मे प्रवेश करता है।

संसार मे जितनी भी--चौरासी लाख-योनियाँ हैं, उनमें यह जीव अनन्तबार जन्म ले चुका है।

इस ससार मे यह जीव तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्त्ती, नारायण, प्रतिनारायण, पंचानुत्तर विमानवासी देव, लोकान्तिक देव, लोकपाल, शक्रादि दक्षिणेन्द्र तथा शक्र की पट्ट-महिषी नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त सब पर्यायें यह जीव अनन्तबार धारण कर चुका है।

जच्चंधबहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई।
भमइ सुचिरंपि जीवो जम्मवणे णट्ठसिद्धिपहो ॥ १७८८ ॥ (भग. आ.)

अर्थ--इस ससार मे यह जीव कभी जन्म से अन्धा, बहरा व गूंगा होकर जन्मा था। अनन्तबार भूख व प्यास से पीड़ित हुआ था। जैसे कोई सिद्धिनगर--मोक्षनगर--का पथभ्रष्ट (मार्गभूला) पथिक अकेला घने जगल में इधर उधर भ्रमण करता है वैसे ही जीव अनादिकाल से ही मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होकर इस भव-वन मे असहाय भ्रमण कर रहा है। और भी कहा है--

"कलुषचरितैर्नष्टज्ञानः सुसंचितकर्मभिः
करणविकलः कर्मोद्भूतो भवार्णवपाततः।
सुचिरमवशो दुःखार्त्तोयं निमीलितलोचनो--
भ्रमति कृपणो नष्टत्राणः शुभेतरकर्मकृत् ॥"

अर्थ--यह अज्ञानी जीव हिंसादि पापाचरणो से बहुत कर्मों का संचय करके उनके फल स्वरूप कभी नेत्रहीन हुआ, कभी कानों की श्रवण--शक्ति से रहित हुआ, कभी वचन उच्चारण करने की शक्ति से विकल हुआ, कभी बौना, लूला, लंगड़ा, टूंचा हुआ, कभी वचन बोलने की शक्ति पाई तो दुःस्वर मिला-जिससे जीवो के कर्णों को अप्रिय हुआ। कभी इन्द्रियो की पूर्णता पाई तो मूर्ख--विवेकरहित हुआ।

ज्वरादि से पीड़ित होकर आर्तध्यानी बना रहा। कभी व्यसनों में फँसकर अनेक पापक्रियाओं में मग्न रहा। कभी इष्टपदार्थों के वियोग से आतुर होकर शोक में दिन बिताये। कभी अपने से अधिक विभूतिवाले मनुष्यों को देखकर मात्सर्य भाव धारण कर भयानक कर्मों का संचय किया। कभी अभिमानवश अधिक गुणवानों में विरोध कर ज्ञानावरणादिकर्मों का संचय करता रहा। कभी संसार के भोग विलास की लालसा के वशीभूत हुआ अन्य जीवों की धनादि प्रियवस्तुओं के ठगने में निपुण रहा। इस प्रकार चिरकाल तक इन्द्रियों के विषय में परतन्त्र हुआ यह जीव अशुभ कर्म करके इस संसार में अशरण, दुःख पीड़ित और दीन होकर एकाकी भ्रमण करता है।

विसयामिसारगाढं कुजोणिणेमि सुहदुक्खदढखीलं।
अण्णाणतुंबधरिदं कसायदढपट्टयाबंधं ॥ १७६१ ॥
बहुजम्मसहस्सविसालवत्तणिं मोहवेगमहिचवलं।
संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥ १७६२ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—कर्म के परतन्त्र हुआ यह जीव संसार रूपी चक्र पर चढ़ा हुआ सतत भ्रमण करता रहता है। इस संसार चक्र के विषयाभिलाषा रूपी मजबूत आरे हैं। नरकादि कुयोनि जिसके नेमि (पूठि) है। सुख दुःख रूप जिसके दृढ़ कील लगी है। अज्ञानावस्था रूप तुंबे से जो धारण किया गया है। जिस संसार-चक्र पर कषायरूप लोहे की पट्टी चढ़ी हुई है। अनेक जन्म रूप विशाल मार्ग पर भ्रमण करता है। मोहरूपी वेग से यह अत्यन्त चंचल दिखाई देता है। ऐसे संसाररूपी चक्र पर चढ़े हुए इस जीव का निकल भागना अत्यन्त कठिन है। सत्संगति के प्रभाव से जब इस आत्मा के सत्यज्ञान का उदय होकर मोहान्धकार दूर होता है, तब इस संसार रूप चक्र का वेग मन्द हो जाता है और जीव उसमे पृथक् होजाने की शक्ति प्राप्त करलेता है। ऐसे अवसर पर रत्नत्रय का आराधन यदि वह करले तो सदा के लिए उससे पृथक् होकर मोक्ष के अविनश्वर पद को प्राप्त कर लेता है।

संसार के छह भेद

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कदिविधो य भावो य।
छहिं अणिओगद्दारे हिं सव्वे भावाणुगंतव्वा ॥ १५ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—१ संसार कैसे रहते हैं ? २ यह किन भावों से होता है ? ३ किसके होता है ? ४ कहां है ? ५ कितने काल की स्थिति वाला है ? और कितने प्रकार का है ? इन छह अनुयोगद्वारों की अपेक्षा संसार के छह भेद होजाते हैं। केवल संसार का स्वरूप वर्णन करने

के लिए ही ये छह अनुयोग द्वार नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन करने के लिए छह अनुयोगद्वार समझने चाहिए। पदार्थों की व्याख्या करने के उपायों को अनुयोगद्वार कहते हैं। इन अनुयोगद्वारों द्वारा व्याख्या करने से पदार्थों का विशद विवेचन हो जाता है।

१ प्रश्न—संसार किसे कहते हैं ?

उत्तर—नरक तिर्यंच देव और मनुष्य इन चारो गतियों में जीव के भ्रमण करने को संसार कहते हैं।

२ प्रश्न—किन भावों से संसार होता है ?

उत्तर—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भावों से संसार होता है। अर्थात् संसारी जीव के ये पांचों भाव पाये जाते हैं।

३—प्रश्न संसार किसके होता है।

उत्तर—अष्ट कर्मों से घिरे हुए नारक, तिर्यंच, देव और मनुष्य के होता है।

४ प्रश्न—यह संसार कहां रहता है ?

उत्तर—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग में संसार पाया जाता है। अर्थात् संसार के आधार मिथ्यात्वादि परिणाम हैं। जहां ये होते हैं वहां संसार होता है। अथवा संसार का आधार तिर्यक लोक है।

५ प्रश्न—संसार का काल कितना है ?

उत्तर—इसका काल अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त है। अभव्य की अपेक्षा संसार अनादि-अनन्त है तथा भव्य की अपेक्षा अनादि सान्त है।

६ प्रश्न—संसार कितने प्रकार का है ?

उत्तर—सामान्य रूप से चतुर्गति मे भ्रमण रूप संसार एक प्रकार का है। भव्यजीव और अभव्यजीव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त इस प्रकार संसार के तीन भेद होते हैं। क्षेत्र, द्रव्य,काल और भाव की अपेक्षा से संसार के चार भेद हैं। तथा उक्त भेदों में 'भव' भेद मिला देने पर संसार पांच प्रकार का है और उक्त गाथा मे वर्णित छह अनुयोग द्वारों की अपेक्षा से संसार के छह भेद हैं।

संसार में दुःख ही दुःख

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओगवीहणयं।
अप्पिय संजोगं पि य रोगमहावेदणाओ य ॥ १६ ॥ (मूला.द्वा. अ.)

अर्थ—उक्त प्रकार के संसार में जन्म से उत्पन्न होने वाला कायिक (काय-जन्य) वाचनिक (वचन-जन्य) मानसिक (मन में उत्पन्न) दुःख तथा प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उत्पन्न होने वाला दुःख महा भयानक होता है। तथा अप्रिय-अनिष्ट वस्तु के संयोग-जन्य महादुःख होता है। इनको तथा ज्वरादि रोगों और खांसी, श्वास, वमन, कुष्ट, राजयक्ष्मा आदि व्याधियों से उत्पन्न हुई वेदनाओं को यह जीव निरन्तर अनुभव करता रहता है। तथा

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरयेसु।
माणुसे देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥ १७ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—यह जीव संसार में निरन्तर जन्म मरण करता हुआ तिर्यंचगति में जलचर, थलचर और खेचर (पक्षी) बनकर अनेक दुःख भोगता है। तथा नरकगति में वचन के अगोचर भीषण दुःखों को भोगता है। यदि किसी पुण्य के योग से मनुष्यगति पा लेता है तो वहां पर तृष्णावश मिथ्यात्व के निमित से अनेक संताप और इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि से उत्पन्न अनेक दुःखों का अनुभव करता है। यदि पुण्य के निमित्त से कभी देवगति में जन्म लिया तो वहां पर भी इसे सुख नहीं। उच्च ऋद्धि के धारक देवों को देखकर नित्य झूरता है। मिथ्यादर्शन के योग से तृष्णा-पिशाची वहां पर भी इसका पीछा नहीं छोड़ती। मोहकर्म की बलवत्ता से उसी को सुख का साधन समझलेता है और छह मास पूर्व माला के मुर्झाने पर अपने को स्वर्ग से च्युत हुआ समझ कर महान मानसिक पीड़ा को भोगता है। वहां पर वह रो रोकर समय बिताता है और पुनः एकेन्द्रियादि जीवों में जन्म लेकर अनन्त दुःख का अनुभव करता है।

इस जीव ने संसार में भ्रमण करते हुए सच्चे सुख का कभी अनुभव नहीं किया। जब कभी कुछ जिस सुख का अनुभव किया है वह इन्द्रियजन्य सुख है। सच्चा सुख नहीं, सुखाभास-सुख की कल्पनामात्र। और वह काल्पनिक सुख भी यहां मिलनेवाले अनन्त दुःख के समक्ष नगण्य है— नहीं के बराबर है। यही कहा भी है :—

जे भोगा खलु केई देवा माणुस्सिया य अणुभूदा।
दुक्खं अणंतखुत्तो णिरिए तिरिएसु जोणीसु ॥ १८ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—कभी-कभी लाभान्तराय व भोगोपभोगान्तराय तथा सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृति के योग से देवपर्याय और मनुष्य पर्याय में सुख भोग की सामग्री भी मिली; किन्तु नरक और तिर्यंच योनि में अनन्त बार घोर दुःख प्राप्त किया। उस दुःख के आगे वह सुख समुद्र में एक बूंद के समान भी नहीं।

सांसारिक सुख के साथ दुःख

संजोगविप्पजोगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥ १९ ॥ (मूला. द्वा. अ.)

अर्थ—संसार में इस जीव को पुण्य योग से इष्ट वस्तुओं का समागम प्राप्त हुआ तो साथ ही मे पाप प्रकृति के उदय से उन्हीं इष्ट पदार्थों के वियोग से महादुःख का अनुभव भी करना पड़ा । जहां लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से मनोवांछित वस्तुओं का लाभ हुआ तो उसके साथ ही लाभान्तरायकर्म के उदय से उनका अलाभ भी हुआ अर्थात् उन अभीष्ट पदार्थों का असद्योग हुआ । सातवेदनीय कर्म के उदय से सुख प्राप्त हुआ तो वीर्यान्तराय कर्म के उदय से उनका सुखानुभव न कर सका अथवा तत्काल असातवेदनीय कर्म का उदय होने पर दुःख के साधनो का सम्बन्ध हुआ और दुःख का अनुभव करने के लिए बाध्य होना पड़ा । यशःकीर्ति कर्म के उदय से व अन्य पुण्य प्रकृति के सहयोग से संसार में आदर सम्मानादि की वृद्धि हुई तो लगातार अयशःकीर्ति व अन्य पाप प्रकृति के उदय से अपमानादि के प्राण-घातक कष्टों को भोगना पड़ा । तात्पर्य यह है कि संसार मे यह जीव कर्म रूप मदारी के हाथ का मर्कट बना हुआ सदा परतन्त्रता के असीम दुःखों का अनुभव कर रहा है । इसे कहीं सच्चा सुख नहीं मिलता । इस तत्त्व का अनुभव कर भव्यों को संसार-भ्रमण से उन्मुक्त होने का उपाय करना चाहिए और संसार मे कहीं सुख मिलने की लालसा छोड़ देनी चाहिए ।

लोकानुप्रेक्षा

एगविहो खलु लोओ दुविहो तिविहो तहा बहुविहो वा ।
दव्वेहिं पज्जएहिं य चिंतिज्जो लोयसब्भावं ॥ २१ ॥ (मूला० द्वा० अ०)

अर्थ—(१) सामान्य रूप से लोक एक प्रकार है—जिसमे जीवादि पदार्थ दिखाई दे उसे लोक कहते हैं । (२) ऊर्ध्व लोक और अधोलोक के भेद से लोक दो प्रकार का है । (३) ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक के भेद से लोक तीन प्रकार का । है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के भेद से लोक तीन प्रकार का है । (४) चारगति के भेद से लोक चार प्रकार का है । (५) जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, और आकाशास्तिकाय के भेद से लोक पॉच प्रकार का है । (६) उक्त पॉच अस्तिकाय और एक काल इन छह द्रव्यो के भेद से लोक छह प्रकार का है । (७) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों की अपेक्षा से लोक सात प्रकार का है । (८) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की अपेक्षा लोक आठ प्रकार का है ।

इस प्रकार लोक की रचना के द्रव्यों और पर्यायों का विचार करने से लोक अनेक प्रकार का सिद्ध होता है। उसके स्वरूप के अभ्यास करने को लोकानुप्रेक्षा कहते हैं।

लोक का स्वरूप

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो ।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालुरुक्खसंठाणो ॥ २२ ॥ (मू० द्वा० अ०)

अर्थ—यह लोक अकृत्रिम है। अर्थात् ईश्वर आदि किसी का बनाया हुआ नहीं है। अनादि (आदिरहित) और अनिधन (अन्तरहित) है। न तो इसकी किसी ने सृष्टि (रचना) की है और न इसका कोई प्रलय (नाश) ही कर सकता है। यह स्वभाव से निष्पन्न है। अर्थात् घटादि की तरह इसकी परमाणुओं के संयोग से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा यह जीव द्रव्यो और अजीव द्रव्यों से भरा हुआ है। अर्थात् यह मायामयी असत्यभूत कल्पनामात्र नहीं जैसाकि वेदान्ती इसे माया रूप (मिथ्या) मानते हैं, यह नित्य है। जैसा कि बौद्ध मत वाले सब पदार्थों को क्षणिक (क्षण विनश्वर) मानते हैं, वैसा नहीं है, किन्तु शाश्वत है। और इस प्रकार के इस लोक का आकार ताड़ के वृक्ष समान है। अर्थात् जैसे ताड़का वृक्ष जड़ में चौड़ा, मध्य में सकड़ा और ऊपर में चौड़ा होता है, उसी प्रकार यह लोक अधोभाग में सात राजू प्रमाण चौड़ा है, मध्य मे सकड़ा होकर एक राजू मात्र चौड़ा रह गया है और फिर ऊपर ऊर्ध्व लोक में ब्रह्म स्वर्ग के पास जाकर पांच राजूप्रमाण चौड़ा और फिर और ऊँचा जाकर अन्तमें एक राजू प्रमाण मात्र रहगया है।

त्रिलोकसार में इस लोक का आकार डेढ़ खड़ी मृदंग के समान कहा है।

उब्भियदलेक्कदमुरवद्धयसंचयसण्णिहो हवेलोगो ।
अध्दुदयो मुरवसमो चोद्दसरज्जूदओ सव्वो ॥६॥ (त्रिलोकसार)

अर्थ—खड़ी रखी हुई डेढ़ मृदंग (आधी मृदंग के ऊपर एक मृदंग) समान आकृति वाला यह लोक है। मृदंग बीच में पोली होती है, किन्तु यह लोक उस की तरह पोला (खाली) नहीं है; मध्य में भरा हुआ है। खड़ी की हुई अर्धमृदंग के समान अधोलोक और रखी हुई एकमृदंग के आकार समान ऊर्ध्वलोक है। दोनों मिलाकर सब लोक चौदह राजू ऊँचा जानना।

भावार्थ— आकाश के बहुमध्य भाग में ३४३ तीनसौ तेतालीस घनाकार राजू प्रमाण यह लोक स्थित है। यह किसी के आधार पर नहीं है। घर के मध्यभाग में जैसे छींका होता है, उसी प्रकार आकाश के मध्य भाग में लोक अवस्थित है। छींके के जो ऊपर

के क्षेत्र का आश्रय होता है; किन्तु यह लोक आश्रय रहित है। इसके चारों ओर तीन वातवलय-घनोदधिवातवलय घनवातवलय, तनुवातवलय हैं। इन तीनों वातवलय (वायुमण्डल) से यह लोक वेष्टित है। इस लोक के अधोभाग में तथालोक के नीचे दोनों पार्श्व भागों में एक राजू पर्यन्त तीनो वातवलयों की मोटाई बीस बीस हजार योजन है। यहां से (नीचे से एक राजू के) ऊपर सातवीं नरक पृथ्वी के निकट घनोदधि की सात, घन वातवलय की पाँच और तनुवातवलय की चार योजन मोटाई रह गई है। अर्थात् बीस हजार योजन से घट कर एकदम क्रमसे सात, पांच और चार योजन की मोटाई रह गई है। यहाँ से वातवलय की मोटाई घटते २ तिर्यक्लोक तक क्रमसे पांच, चार और तीन योजन की मोटाई रह गई है। फिर यहाँ से क्रमसे बढ़ते बढ़ते ब्रह्मलोक के निकट तीनों वातवलयों का परिमाण क्रमशः सात पाँच और चार योजन का होगया है। तथा यहां से क्रम से घटते घटते उर्ध्वलोक में तिर्यक् लोक के समान पाँच, चार और तीन योजन मोटाई रह गई है। लोक के उपरिम भाग मे तीनों वातवलय का प्रमाण दो कोश, एक कोश, और एक कोश में चारसौ पच्चीस धनुष कम मोटाई का प्रमाण है। अर्थात् घनोदधिवातवलय दो कोश प्रमाण, घनवातवलय एक कोश प्रमाण और तनुवातवलय पन्द्रहसौ पचहत्तर धनुष प्रमाण मोटे हैं।

इस प्रकार के तीन वातवलय के आधार पर लोक स्थित है। लोक को चार ओरों से घनोदधिवातवलय (जल मिश्रित मोटी वायु) वेष्टित किये हुए है। यह वायु इस लोक के चारो ओर समशक्ति अवस्थित है। अतः इसी वायु के आश्रय पर लोक अवलम्बित है-ऐसा जानना। जैसे किसी पदार्थ को चारो ओर से समाने शक्ति से धक्का-लगता रहे तो यह पदार्थ बीच में ही स्थिर रहता है, इसी प्रकार लोक के चारों तरफ समान शक्ति वाली वायु धक्का दे रही है; अतः यह मध्य मे जहाँ का तहाँ अवस्थित होरहा है। घनोदधि वायु के आधार पर लोक है। यह घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आश्रय पर है। यह वायु भी मोटी है, लेकिन उस मे जलका भाग नहीं है। और यह घनवातवलय तनुवातवलय के आश्रित है। सूक्ष्म वायु को तनुवात कहते हैं। तनुवातवलय आकाश के आश्रित है। और आकाश अमूर्त्त होने से किसी के आधार पर नहीं है। यह स्वप्रतिष्ठ है अपने आपके आधार है।

घनोदधिवात का रंग गोमूत्र के वर्ण समान है. घनवात का रंग मुंग नाम के अन्न के समान हरा है और तनुवात का रंग अनेक प्रकार का माना गया है।

अन्य मतो मे इस लोक के विषय मे भिन्न भिन्न अनेक मान्यताएँ हैं। कोई तो कहते हैं कि इस संसार में सर्वत्र जल ही जल था। ईश्वर को सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उस इच्छा से एक अण्डा जल मे उत्पन्न हुआ और वह बहुत बडा हो गया। उसके दो विभाग (खंड) हुए। एक नीचे के विभाग से पृथ्वी बनी और ऊपर के खंड से आकाश की रचना हुई। उन दोनों के मध्य में मनुष्य लोक, स्वर्ग लोक, औरपाताल लोक का निर्माण हुआ।

कोई मानते हैं कि विष्णु इस जगत की रचना करता है, ब्रह्मा उस का पालन करता है और रुद्र (महादेव) इसका प्रलय (संहार-नाश) करता है। इस प्रकार इसकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता रहता है।

योग ईश्वर की इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और प्रयत्नशक्ति इन तीनों शक्तियों से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। वे कहते हैं की जीवों के शुभाशुभ कर्म के अनुसार ईश्वर जगत की रचना करता है।

सांख्य मानते हैं कि सत्त्व रज और तम ये तीन धर्म प्रकृति में रहते हैं। इन तीनों की जब तक समअवस्था रहती है, तब तक प्रकृति अपने स्वरूप में ही रहती है और जब इन धर्मों में विषमता होने लगती है, तब जगत का निर्माण आरम्भ होता है। उनका सृष्टिक्रम निम्न प्रकार करते हैं।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सांख्यतत्त्व कौमुदी)

भावार्थ—प्रकृति और पुरुष ये दो मूल तत्त्व हैं। सत्त्व, रज और तम इनकी साम्यावस्था को प्रकृति या प्रधान कहते हैं। और जो चेतन है उसे पुरुष कहते हैं। यह चेतन केवल अपने स्वरूप का अनुभव मात्र करता है। बाह्य पदार्थों का ज्ञान बुद्धि से होता है और वह बुद्धि प्रकृति का धर्म है। क्योंकि प्रकृति के सत्त्वादि गुणों में जब विषमता उत्पन्न होती है, तब प्रकृति से महान (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पाँव, गिर, गुदा और उपस्थ (जननेन्द्रिय) पाँच तन्मात्र अर्थात् इंद्रियों के विषय (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द और एक मन) तथा पाँच तन्मात्र (इन्द्रियों के विषय से पाँच भूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) उत्पन्न होते हैं। यह सृष्टी-प्रक्रिया है।

इन पचीस तत्त्वों में प्रकृति और पुरुष ये दो तत्त्व नित्य हैं। और शेष तेईस तत्त्व प्रकृति से जन्म लेते हैं। और प्रलय काल में प्रकृति से जिस क्रमसे उत्पन्न हुए हैं, उसी क्रम से लीन हो जाते हैं। अर्थात पंचभूत तो पंचतन्मात्र में लीन हो जाते हैं। पंचतन्मात्र पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन ये सोलह तत्त्व अहंकार में लीन हो जाते है और अहंकार महान् (बुद्धि) मे लीन होजाता है, और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है। इस प्रकार प्रलय काल मे प्रकृति और पुरुष ये दो ही तत्त्व शेष रह जाते हैं।

उक्त रीति के अनेक मत प्रचलित हैं। उन सबका वर्णन करने से ग्रन्थ के विस्तृत होने का भय है; अतः विशेष नहीं लिखते हैं। किन्तु यह ध्यान रखना कि उक्त जैनेतर सब कल्पनाएँ युक्ति से असंगत और बुद्धि से अग्राह्य हैं।

इस संसार में पहले केवल जल ही जल था-ऐसा जो मानते हैं उनको सोचना चाहिए कि सबसे पहले जल ही जल था, और कुछ भी नहीं था, पृथ्वी आकाश भी नहीं थे, तो जल किस पर ठहरा हुआ था ? क्योंकि जल विना आधार के ठहरने में असमर्थ है। उसके लिए कोई पृथ्वी या अन्य कोई आश्रय मानना ही पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि ईश्वर (ब्रह्मा) की इच्छा से जल में एक अंडा उत्पन्न हुआ और इसी कारण इस जगत् को लोग ब्रह्माण्ड कहने लगे। इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि उस अण्डे का उपादान (जिस द्रव्य या पदार्थ ने वह उत्पन्न हुआ है वह) क्या है, और वह कहाँ पर स्थित था ? तथा उस अण्डे को बनानेवाला ईश्वर किस स्थान पर निवास करता था ? उसके शरीर था या नहीं ?

शरीर धारण किये विना तो मूर्त्तद्रव्य उत्पन्न नहीं किये जा सकते ? क्योंकि मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति मूर्त्तद्रव्य से ही होती है। अमूर्त्त से मूर्त्तद्रव्य की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति मे उपादान कारण और निमित्त कारण की आवश्यकता होती है। जो कारण कार्यरूप परिणमन करता है उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, क्योंकि मिट्टी घड़े के रूप में परिणत हुई है। जो कार्य की उत्पत्ति में प्रयत्न करता है या सहायक होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे कुम्हार घड़े के बनाने में प्रयत्न करता है, अतःवह घड़े का निमित्त कारण माना जाता है। इसी प्रकार यदि ईश्वर उत्पादक-निमित्त कारण है तो जगत् का उपादान कारण अन्य होना चाहिए। जगत् का उपादान कारण ईश्वर तो हो नहीं सकता, क्योकि वह अमूर्त्त है, तथा अचेतन व चेतन रूप जगत् का उपादान कारण भी वैसाही चेतन व अचेतन रूप होना चाहिए।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्न की आवश्यकता होती है। ईश्वर में ज्ञान तो माना जा सकता है, किन्तु उसमे इच्छा और प्रयत्न का सद्भाव मानना किसी भी तरह युक्ति-संगत नहीं है। ईश्वर के यदि इच्छा का सद्भाव माना जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि वह ईश्वर की इच्छा नित्य है या अनित्य ? यदि वह नित्य है तो उसके साथ कभी कार्यों का अन्वय-व्यतिरेक नहीं बन सकता। यदि उसे अनित्य माना जाय तो बतलाना होगा कि उस इच्छा की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

जगत् में कोई भी इच्छा विना कर्म के नहीं होती। यदि ईश्वर के इच्छा मानें तो उसे सकर्मा मानना होगा। पर ईश्वर को सकर्मा मानना तो बिल्कुल युक्ति-विरुद्ध है। क्योंकि तब हममें और ईश्वर में कोई भेद ही न रहेगा इस तरह जब ईश्वर के किसी भी युक्ति से इच्छा सिद्ध नहीं हो सकती तब उसके प्रयत्न भी कैसे माना जा सकता है ?

जो लोग (सांख्य) प्रकृति (प्रधान) से जगत् की रचना मानते हैं उनसे हम पूछते हैं कि प्रकृति जब जड है तो उससे बुद्धि (ज्ञान) कैसे उत्पन्न हो सकती है ? क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) तो चेतन आत्मा का धर्म है ।

सत्त्व, रज और तम की समानावस्था को प्रकृति कहते हैं । इन सत्त्वादि गुणों मे विषमता उत्पन्न करने वाला कौन है ? पुरुष तत्त्व को तो उक्त कार्य करने में असमर्थ माना गया है । वह तो अपने स्वरूप का अनुभव करता है, बाहर के कार्य में वह अकिंचित्कर है । जगत की उत्पत्ति और प्रलय को सांख्यों ने प्रकृति के कार्य स्वीकार किये हैं, किन्तु उनका कारण प्रकृति नहीं हो सकती । क्योंकि प्रकृति का ठीक स्वरूप साम्यावस्था है । उसमें जब विषमावस्था उत्पन्न होती है तभी जगत का निर्माण स्वीकार किया गया है । हम पूछते हैं कि उस वैषम्य (विषम अवस्था) को उत्पन्न करने वाला कौन है ?

इस प्रकार जगत् की सृष्टि माननेवाले जितने भी जैनेतर मत हैं वे सब युक्तियों से निराकृत होते हैं इसलिए अमान्य हैं ।

लोक की रचना के समान लोक के आश्रय के विषय में भी अनेक मत हैं वे भी युक्ति-संगत नहीं । जैसे—

कुछ लोग इस पृथ्वी को गाय के सींग पर टिकी हुई मानते हैं । कुछ लोग यह भी कहते हैं कि गाय के सींग पर नहीं किन्तु कछुवे की पीठ पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है । कुछ ऐसे भी लोग हैं जो यह कहते हैं कि यह सारी पृथ्वी शेषनाग के माथे पर ठहरी हुई है । पर इन मे से किसी का भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह गाय, कछुवा और शेष नाग कहाँ पर ठहरे हुए हैं ? यदि इन का भी कोई आधार स्वीकार किया जाय तो फिर उस आधार के विषय में भी प्रश्न उपस्थित होंगे और इस तरह अनवस्था आजायगी। अतः जैनाचार्यों ने जो इस सारे लोक को तीन प्रकार की वायु के आधार पर माना है वही बुद्धि-ग्राह्य और युक्ति-संगत है ।

लोक के विभाग

इस लोक के तीन विभाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ।

अधोलोक सात राजू प्रमाण ऊँचा है । इसके अधोभाग में चौड़ाई सात राजू प्रमाण है । पुनः घटते २ अधोलोक के ऊपर के अन्तिमभाग–नरक की प्रथम पृथ्वी-में आकर इसकी चौड़ाई एकराजू प्रमाण रहगई है । इसका क्षेत्रफल (लम्बाई चौड़ाई) अठाईस राजू प्रमाण है ।

इस अधोलोक के (नरक की सातवीं पृथ्वी के) नीचे एकराजू प्रमाण क्षेत्र में केवल निगोदिया जीवों का निवास है । उस एक राजू प्रमाण स्थान में ठसाठस निगोदिया जीव भरे पड़े हैं । इस अधोलोक के शेष छह राजू प्रमाण क्षेत्र में सात नरक पृथ्वियाँ हैं ।

नरक की पृथ्वियों का वर्णन

प्रथम पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। इसके तीन भाग हैं–१ खरभाग, २ पंकभाग। ३ अब्बहुलभाग। उनमें से खरभाग सोलह हजार योजन मोटा है। उसमें एक एक हजार योजन की मोटी सोलह भूमियाँ हैं। उनके नाम ये हैं—

१ चित्रा, २ वज्रा, ३ वैडूर्या, ४ लोहिता, ५ कामसार कल्पा, ६ गोमेदा, ७ प्रवाला, ८ ज्योतिरसा, ९ अंजना, १० अंजनमूलिका, ११ अङ्का, १२ स्फटिका, १३ चन्दना, १४ सर्वार्थका, १५ बकुला, १६ शैला।

इन सोलह भूमियों में से आदि की चित्रा और अन्त की शैला नाम की भूमि को छोड़ कर बाकी की चौदह भूमियों में राक्षस और असुरकुमार देवों के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवों और भवनवासी देवों के आवास स्थान बने हुए हैं। उनमें ये देव निवास करते है। जबूद्वीप से असंख्यात द्वीप समुद्रों को छोडकर शेष द्वीप समुद्रों के नीचे के भूभाग में भवनवासी और व्यन्तर देवों के उक्त निवास स्थान बने हुए हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप और लवणसमुद्रादि असंख्यात द्वीप समुद्रों के नीचे के भाग में उक्त देवों के निवास स्थान नहीं बने हैं, किन्तु उक्त असंख्यात द्वीप समुद्रों के आगे के अधोभाग मे उक्त निवासस्थान बने हैं।

दूसरा पंक भाग चौरासी हजार योजन का मोटा है। उसमे राक्षस नाम के व्यन्तर देवों के और असुरकुमार नामक भवनवासी देवो के निवासस्थान बने हुए है।

तीसरा अब्बहुल भाग है, उसमे प्रथम नरक है। उक्त तीनो भाग रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के हैं। इन तीनों भागों के मध्य कोई पोल (रिक्त आकाश का अन्तराल) नहीं है। जैसे किसी पर्वत के किसी अपेक्षा से विभाग किये जाते हैं वैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के ये तीन खण्ड हैं।

दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी बत्तीसहजार योजन, तीसरी बालुकाप्रभा अठाईस हजार योजन, चौथी पंकप्रभा चौबीस हजार योजन, पाँचवी धूमप्रभा बीस हजार योजन, छठी तमःप्रभा सोलह हजार योजन और सातवीं महातमःप्रभा आठ हजार योजन मोटी है।

नरक की सात पृथिवियो के उक्त रत्नप्रभा आदि नाम भूमि के वर्ण (प्रभा) के साहचर्य के कारण निष्पन्न हुए हैं। इनके रूढ नाम तो ये हैं—१ घर्मा, २ वंशा, ३ मेघा, ४ अंजना, ५ अरिष्टा, ६ मघवी और ७ माघवी।

ये सातो पृथ्वियाँ लोक के अंत (दोनों ओर) तक चली गई हैं। लोक में कुल ८ धरा (पृथ्वियाँ) हैं। सात तो ये नरक धरा,

और आठवीं सिद्धधरा (सिद्धशिला) है। धरा उसीको कहते हैं जो पूर्व पश्चिम लोक केअन्त को प्राप्त हो। स्वर्ग-विमानों को धरा इसीलिए नहीं कहा है कि वे लोकान्त तक अखंड रूप नहीं हैं।

ये सातों भूमियाँ एक दूसरी से असंख्यात योजन के अन्तर पर हैं। इन भूमियों के चारों ओर उक्त तीनों प्रकार की वायु का वेष्टन है अर्थात् इन भूमियों को घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय चारों तरफ से वेढ़े हुए हैं। इन भूमियों में प्रथम पृथ्वी के अब्बहुल भाग और द्वितीयादि पांच पृथ्वीयों में एक एक हजार योजन ऊपर नीचे का भूभाग छोड़कर सातवीं पृथ्वी के ऊपर और नीचे बहुत भूभाग छोड़कर मध्य भाग में पटलों के अनुक्रम से नरक बिल हैं। शेष भूमिभाग में एकेन्द्रिय जीवों का ही निवास है।

नारकियों के शरीर की ऊँचाई

प्रथम नरक के नारकी का शरीर सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल ऊँचा है। दूसरे आदि नरक में दूना २ ऊँचा होता चला गया है। अर्थात् दूसरे नरक के नारकी का शरीर साढ़े पन्द्रह धनुष, बारह अंगुल (आधा हाथ) ऊँचा है। तीसरे नरक के नारकी का शरीर सवा इकतीस धनुष ऊँचा है। चौथे नरक के नारकी का शरीर साढ़े बासठ धनुष ऊँचा है। पाँचवें नरक के नारकी का शरीर एक सौ पच्चीस धनुष ऊँचा, छठे नरक के नारकी का ढाईसौ धनुष ऊँचा और सातवें नरक के नारकी का शरीर पाँचसौ धनुष ऊँचा है।

इन सात पृथिवियों में कुल उनचास पटल (प्रस्तार—खन) हैं। जैसे हवेली या महल में खन होते हैं, वैसे ही इन पृथ्वियों में पटल हैं। पहली पृथ्वी (अब्बहुल भाग) में तेरह, और द्वितीयादि पृथिवी में क्रमसे ग्यारह, नव, सात, पाँच, तीन और एक पटल हैं।

उक्त सात पृथिवियों के उनचास पटलों में कुल नारकियों के चौरासी लाख बिल हैं। अर्थात् पहली भूमि में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दश लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं में केवल पाँच बिल हैं।

नरक में ठंड और गर्मी

नरक की प्रथम भूमि रत्नप्रभा से लेकर चार भूमियों के और पाँचवी पृथ्वी के चार भागों में से तीन भाग (ऊपर के दो लाख) तक के सब बिल अग्नि से भी अधिक उष्ण हैं। इन पृथ्वियों में इतनी उष्णता है कि मेरु पर्वत के समान लोहे या तांबे का गोला ऊपर से गिराया जावे तो मार्ग में ही पिंघल कर पानी-सा होकर बह जावे तथा पाँचवीं पृथ्वी के चतुर्थ भाग से लेकर अन्त तक (सातवीं भूमि तक) उसी प्रकार शीत की पराकाष्ठा है।

नारकियों के बिलों की स्थिति का प्रकार

नरक की पृथ्वियों के पटलों में तीन प्रकार के बिल हैं—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक । जैसे एक हवेली में कई खन (मंजिल) होते हैं वैसे ही नरक भूमियों में कई पटल हैं । प्रत्येक खन में जैसे बीचमें कोठा हो वैसे प्रत्येक पटल के बीच में इन्द्रक नामका बिल है और उसकी चारों दिशाओं व विदिशाओं में कोठों की पंक्तियाँ हों वैसे प्रत्येक पटल में दिशाओं व विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल हैं, एवं प्रत्येक खन में जैसे इधर-उधर दिशा-विदिशा के बीच-बीच में कोठे हों वैसे दिशा विदिशा के बीच २ में क्रमरहित बिल हैं, उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं । जैसे हवेली के खन पृथ्वी के ऊपर भाग में रहते हैं वैसे नरक रचना नहीं है किन्तु एक के नीचे एक पटल होते हैं और उन पटलों के अधोभाग में जैसे यहाँ भूमि-गृह होते हैं वैसे नरक बिल हैं । महल में चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ और दर्वाजे आदि होते हैं वैसे नरक के बिलों में नहीं होते हैं ।

प्रथम नरक के प्रथम पटल के मध्य भाग में एक इन्द्रक बिल है । ऐसे ही सम्पूर्ण पटलों में एक एक इन्द्रक बिल होता है । प्रथम पटल की चारों दिशाओं में चार पंक्तियाँ हैं, उन हर एक पंक्तियों में उनचास २, और ऐसे ही चारों विदिशाओं में चार पंक्तियाँ हैं, उन प्रत्येक पंक्तियों में अड़तालीस अड़तालीस बिल हैं, उन्हें श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं । ये बिल प्रतिपटल एक एक कम होते चले गये हैं । इसलिए सब के अन्तिम सातवीं भूमि के उनचासवें पटल की विदिशा में श्रेणीबद्ध बिल का सर्वथा अभाव है । चारों दिशाओं में भी एक एक ही बिल है । और मध्य में एक इन्द्रक बिल है । इस प्रकार सातवें नरक में केवल पाँच ही बिल हैं ।

श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलों की संख्या को सम्पूर्ण बिलों की संख्या में घटाने पर जितनी संख्या आती है उतने प्रकीर्णक बिल हैं । जैसे प्रथम पृथ्वी में चारहजार चारसौ बीस श्रेणीबद्ध बिल और तेरह इन्द्रक बिल इन दोनों को तीस लाख में घटाने पर उनतीस लाख पिच्यानवे हजार पाँचसौ सरसठ प्रकीर्णक बिलों की संख्या आती है ।

जहाँ समान हानि या वृद्धि होती है उनका जोड़ लाने के लिए त्रिलोकसार में करण सूत्र इस प्रकार है—**'मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि'** अर्थात् मुख और भूमि का योग (जोड़) करके आधा करे और उसे पद (गच्छ) से गुणा करे तब सब स्थानों का जोड़ होता है ।

भावार्थ—जितने स्थानों का जोड़ देना हो उन स्थानों को पद या गच्छ कहते हैं । स्थान स्थान प्रति जितने प्रमाण से हानि या वृद्धि होती है उसे चय कहते हैं । और आदि या अन्त के इन दो स्थानों में से जो अधिक प्रमाणवाला स्थान है, उसे भूमि कहते हैं और जो अल्प प्रमाणवाला स्थान है, उसे मुख कहते हैं । जैसे प्रथम नरक के तेरह पटल के बिलों की संख्या का प्रमाण निकालना है तो यहाँ

पद की संख्या तेरह है और प्रति पटल के श्रेणिवद्ध विमानों मे दिशा और विदिशा के बिलों मे एक एक घटता गया है। 'जैसे–प्रथम पटल की दिशा की प्रत्येक पंक्ति मे उनचास-उनचास और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति मे अडतालीस-अडतालीस-बिल हैं। नीचे के दूसरे पटल में दिशा की प्रतिपंक्ति में अडतालीस-अडतालीस और विदिशा की प्रत्येक पंक्ति मे सैंतालीस-सैंतालीस बिल हैं। इसी प्रकार प्रति पटल की दिशा व विदिशा की पंक्ति मे एक एक घटता हुआ चला गया है।' अतः प्रथम पटल के दिशा की पंक्ति में उनचास और विदिशा की पंक्ति मे अडतालीस श्रेणिवद्ध बिलों को जोडने पर सत्यानवे होते हैं, दिशा व विदिशा का प्रमाण चार है, अतः सत्यानवे को चौगुना करने पर प्रथम पटल के सम्पूर्ण श्रेणिवद्ध बिलो का प्रमाण तीनसौ अठासी होता है। यह यहाँ पर भूमि है। अन्त के तेरहवें पटल मे दिशा मे सैंतीस और विदिशा मे छत्तीस श्रेणिवद्ध बिल हैं, इनको जोड़ने पर तिहत्तर हुए। इनको चार दिशा व विदिशा के प्रमाण से गुना करने पर दोसौ बानवे हुए। इतने अंतपटल मे श्रेणिवद्ध बिल हैं। यह यहाँ पर मुख है। प्रति पटल आठ-आठ श्रेणिवद्ध घटते जाते हैं, अतः चय का प्रमाण यहाँ आठ है। 'मुहभूमिजोगदले' के अनुसार मुख तो दो सौ बानवे और भूमि तीन सौ अठासी का योग (जोड़) छहसौ अस्सी का दल (आधा) करने पर तीन सौ चालीस हुए। इन को पद तेरह से गुणा करने पर चार हजार चारसौ बीस प्रथम नरक के तेरह पटलो के सम्पूर्ण श्रेणिवद्ध बिलो का प्रमाण होता है। इनमे तेरह इन्द्रक बिलों का प्रमाण जोड़ने पर चार हजार चारसौ तेतीस होते हैं। इसी प्रकार द्वितीयादि नरक भूमि के श्रेणिवद्ध बिलो का प्रमाण निकाल लेना चाहिए।

समस्त भूमियो के श्रेणिवद्ध बिलों का प्रमाण भी उक्त प्रकार से निकाल लेना चाहिए। यहाँ पर मुख तो सप्तम भूमि सम्वन्धी श्रेणिवद्ध बिल 'चार' है। तथा भूमि प्रथम भूमि के प्रथम पटल के श्रेणिवद्ध बिल तीनसौ अठासी है। इनका योग तीनसौ बानवे के आधे एक सौ छियानवे को चय प्रमाण उनचास से गुणा करने पर नौ हजार छह सौ बावन सम्पूर्ण नरक भूमियों के श्रेणिवद्ध बिल होते हैं।

नरक भूमियों के इन्द्रक बिल का विस्तार संख्यात–संख्यात योजन, श्रेणिवद्ध बिल का विस्तार असंख्यात २ योजन और प्रकीर्णक बिलका विस्तार संख्यात या असंख्यात योजन है। अर्थात् कोई प्रकीर्णक बिल संख्यात योजन का है और कोई असंख्यात योजन का है।

प्रथम पटल का इन्द्रक बिल मनुष्य क्षेत्र (पैंतालीस लाख योजन) प्रमाण और पटल का इन्द्रक सातवें नरक का उनचासवें बिल जम्बूद्वीप (एकलाखयोजन) प्रमाण है। मध्य के पटलों के बिल नीचे नीचे क्रमशः हीन प्रमाण वाले हैं। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार से जानना।

नरक में जन्म कौन लेता है ?

नरक के बिल कुत्ते, बिल्ली, शूकर आदि के अत्यन्त सड़े हुए कलेवर से भी अत्यधिक दुर्गन्धमय हैं। उनमे वे जीव उत्पन्न होते हैं जिन्होंने बहुत आरंभ व परिग्रह के उपार्जनादि में रौद्र परिणाम करके नरकायुका संचय किया है।

नारकों के उपपाद स्थानों का आकार व जन्म की दशा

जैसे महल की छत मे कोई स्थान बना हो वैसे उन नरक के बिलो मे ऊपर की ओर ऊंट आदि के मुख समान आकार वाले (भीतर से पोले सकड़े मुखवाले) उपपाद स्थान हैं, उनमे नारकी जन्म लेते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त में उनकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। उसके पश्चात वे उन उपपाद स्थानों से छूटकर, नीचे नरक बिलों के भूमितल पर जो तीक्ष्ण शस्त्र रहते हैं उन पर गिरते हैं और वहाँ से उछल कर फिर उन्हीं पर गिरते हैं। घर्मा पृथ्वी के नारकी एकसौ पच्चीस मे सोलह का भाग देने पर जितनी संख्या आवे उतने योजन (सात योजन सवा कोश) ऊपर उछलते हैं। वंशादि भूमि में इनसे क्रमशः दूने २ उछलते हैं अर्थात् जिस भूमि मे नारकियो की जितने धनुप ऊँचाई है उतने ही योजन प्रमाण वे ऊपर उछलते हैं।

नारकियों के दुःख

पुराने नारकी नवीन नारकियों को देखकर अत्यन्त कठोर वचन उचारण करते हुए आते हैं और उन्हें मारते हैं। शस्त्र पर गिरने से उनके शरीर पर जो घाव होजाते हैं उनपर अत्यन्त खारा जल सींचते हैं।

नवीन नारकी जीवों के पर्याप्ति पूर्ण होने पर कुअवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उससे वे अपना पूर्व जन्म का वैर-सम्बन्ध जानकर तथा अपृथक् विक्रिया द्वारा हिंसक जन्तु या शस्त्रादि का आकार धारण कर पुराने नारकियों को मारते हैं तथा पुराने नारकी उन्हें मारते हैं। नारकियों के अपृथक् विक्रिया ही होती है। अतः वे अपने शरीर को हिंसक सिंह, व्याघ्र, शूकर, घूक, काक, गिद्ध आदि में किसी एक प्राणीरूप अथवा गदा, भाला, शूली, मुद्गर, अग्नि आदि शस्त्रादि रूप बनाकर दूसरो के हनन करने मे प्रवृत होते हैं।

वहाँ पर वैताल कीसी आकृति वाले भयानक पर्वत हैं, तथा दुःख देने वाले सैकडो यंत्र के समान गुफाएँ हैं। अग्नि से तपी हुई लोहे की सूचि के समान वहाँ स्त्री आदि की प्रतिमा हैं। तथा वहाँ असि-पत्र वन है, जो छुरी, अग्नि, फरसा आदि के समान अति तीक्ष्ण पत्रों (पत्तों) से संयुक्त है।

वहाँ अतिक्षार जल वाली वैतरणी नामक नदी है और अति दुर्गन्ध घृणास्पद रुधिर से संयुक्त महावीभत्स ह्रद हैं जो करोड़ों कीड़ों से भरे हुए हैं। नारकी घोर अग्नि के भय से दौड़ते हुए शान्ति के लिए उस वैतरणी नदी मे कूद पड़ते है तो उसके खारे जल से उनके घाव-विक्षत हुए शरीर रुग्ण हो जाते हैं। वहाँ से वे शान्ति के अर्थ असि-पत्र वन की छाया मे बड़े वेगसे दौड़कर जाते हैं तो वहाँ पवन से गिरे हुए असि, छुरी, भाले आदि सरीखे तीक्ष्ण पत्तो से उनके शरीरो के खण्ड-खंड हो जाते हैं और वे घोर दुःख पाते हैं।

गर्म लोहे के समान जल से भरी हुई कुंभी में नारकियों को डालकर, जैसे हांडी में अन्न पकाते हैं वैसे, पकाते हैं। जैसे कड़ाहों में तपे हुए तेल में पक्वान्न तलते हैं वैसे नारकियों को कड़ाहों में डालकर तलते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के दुःखों की सामग्री वहाँ पाई जाती है।

नरक की भूमि का स्पर्श तपे हुए लोहे के समान है। नरक भूमि सूई सरीखी पैनी हरी घास से व्याप्त है। हजारों बिच्छुओं के काटने से जैसी वेदना यहाँ होती है उससे भी अधिक वेदना नरक की भूमि के स्पर्श मात्र से होती है। उन नारकियों के उदर, नेत्र और मस्तक आदि के रोगों से तथा क्षुधा, तृषा, अर्थात् से तीव्र वेदना निरन्तर हुआ करती है।

कुक्कुर (कुत्ता) बिलाव आदि निकृष्टजीवों की दुर्गन्धमय विष्ठा से भी अत्यन्त दुर्गन्धमय प्रथम नरक की मिट्टी है। अत्यन्त भूखे नारकियों को वह मिट्टी बहुत थोड़ी खाने को मिलती है। दूसरे तीसरे आदि नरकों की मिट्टी और भी अधिक २ दुर्गन्धमय है।

पहले नरक के प्रथम पटल की मृत्तिका (मिट्टी) जिसका भक्षण वहाँ के नारकी करते हैं, वह यदि इस मनुष्य लोक में डाला दी जाय तो वह मृत्तिका अपनी दुर्गन्ध से आध २ कोश के जीवों को मारने में समर्थ होसकती है। ऐसे नीचे नीचे के प्रत्येक पटल की अनुक्रम से उस मिट्टी में आधे आधे कोश अधिक पृथ्वी में स्थितजीवों को मारने की शक्ति होती है। अर्थात् दूसरे पटल की मिट्टी में दुर्गन्ध से एक कोशतक के जीवों को मारने की शक्ति है। तीसरे पटल की मृत्तिका में डेढ़ कोशतक के और चौथे पटल की मृत्तिका में दो कोशतक के जीवों का घात करने का सामर्थ्य है। इस प्रकार सातवें नरक की मृत्तिका में साढ़े चौवीस कोश तक की पृथ्वी पर के जीवों का संहार करने की शक्ति होती है।

शस्त्रादि से उन नारकियों के शरीर के टुकड़े २ होजाते हैं, किन्तु वे अकाल (आयु पूर्ण हुए बिना) मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं। उनके शरीर के हजारों खंड होने पर भी वे पारे (धातु) के समान तत्काल मिल जाते हैं।

जिनके तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता होती है। अर्थात् जो नरक से निकलकर तीर्थंकर होने वाले हैं उन जीवों के नरकायु के छह मास शेष रहने पर नरक में देव उनके उपसर्ग का निवारण करते हैं। (इसी प्रकार जो जीव स्वर्ग से च्यव कर तीर्थंकर होने वाले होते हैं उन के छह मास पूर्व अन्य देवों की भांति माला नहीं मुरझाती है।)

नारकियों की आयु अनपवर्त्य (अकाल मृत्युरहित) होती है। उनकी भुज्यमान आयु किसी निमित्त से नहीं घटती है। जितनी आयु है उसको पूर्ण भोगे बिना मृत्यु नहीं होती है। पवन से जैसे मेघ-पटल नष्ट होकर आकाश में विलीन हो जाते हैं वैसे ही नारकी जीवों के शरीर भी आयु के पूर्ण होने पर विलय को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य व तिर्यंचों के मृतक शरीर के समान भूमिपर पड़े नहीं रहते हैं।

नारक जीवो को चार प्रकार के दुःख होते हैं—क्षेत्रजन्य—२ शरीरजन्य—३ मनोजन्य, व ४ असुरदेवजन्य।

१ क्षेत्रजन्य—नरक भूमि के अतितीक्ष्ण शस्त्र, कठोरस्पर्श, विष से अति कटु रस, सड़े हुए कुत्ते बिल्ली आदि के मृतक कलेवर से अत्यधिक दुर्गन्ध, जिसके पंख नोचलिये गये हैं ऐसे पक्षी के समान महाबीभत्स रूप, कूटशाल्मली, वैतरणी नदी, वेताल सम भयानक पर्वत गुफा आदि से वचनातीत क्षेत्रजन्य दुःख नारक जीवों के होता है।

२ शरीरजन्य—शरीर में अनेक प्रकार के भयानक उदरशूलरोग, मस्तक में तीव्र पीड़ा, शरीर के व्रण (घाव) आदि की तीव्र वेदना होती है। यह शरीर-जन्य दुःख है।

३ मनोजन्य—चारो ओर के भय से निरन्तर आकुल परिणामों के कारण जो सतत आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से उत्पन्न होने वाला अतिशय दुःख नारक जीवो को होता रहता है, वह मनोजन्य दुःख है।

४ असुरकुमारदेव जन्य—तीसरे नरक तक अम्बावरीपादि जाति के असुरकुमारदेव नारक जीवों को परस्पर लड़ाते हैं। उनको पूर्व वैर का स्मरण दिलाते हुए एक दूसरे को मारने का उपाय बतला कर दुःख देते हैं।

नारकियों की आयु

अब नारक जीवों की पटल-पटल प्रति जघन्य व उत्कृष्ट आयु को दिखाते हैं—

प्रथम पृथ्वी के प्रथम पटल मे नारक जीवो की जघन्य आयु दश हजारवर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बै हजार वर्ष की होती है। दूसरे पटल में जघन्य आयु समयाधिक निब्बै हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु निब्बै लाख वर्ष की है। तीसरे पटल में जघन्य आयु समयाधिक निब्बै लाख वर्ष और उत्कृष्ट आयु असंख्यात कोटि वर्ष पूर्व है। (सत्तर लाख छप्पन हज़ार कोटि को पूर्व कहते है।) चौथे पटल मे जघन्य आयु तीसरे पटल की उत्कृष्ट आयु से समयाधिक प्रमाण है और उत्कृष्ट आयु एक सागर का दशवाँ भाग प्रमाण है। इस प्रकार सर्वत्र ऊपर की उत्कृष्ट आयु नीचे पटलकी जघन्य आयु समझनी चाहिए। पॉचवें छठे आदि पटल मे अनुक्रम से दो सागर के दशवें भाग, तीन सागर के दशवें भाग, चारसागर के दशवें भाग, पॉच सागर के दशवें भाग, छह सागर के दशवें भाग, सात सागर के दशवें भाग, आठ सागर के दशवें भाग, नौ सागर के दश भाग प्रमाण और एक सागर प्रमाण आयु समझना चाहिए।

अर्थात् प्रथम नरक पृथ्वी के नारकों की उत्कृष्ट आयु एक सागर प्रमाण है। दूसरी पृथ्वी में तीन सागर, तीसरी में सात सागर, चौथी में दशसागर, पॉचवीं मे सत्रह सागर, छठी में बाईस सागर और सातवीं में तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। पूर्व पूर्व

पृथ्वी की जो उत्कृष्ट आयु है वह समयाधिक उत्तर उत्तर पृथ्वी की जघन्य आयु जाननी चाहिए।

प्रथम नरक भूमि के अन्तिम पटल में नारक जीवों की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है तथा द्वितीयादि भूमि में नारकों के शरीरकी ऊँचाई दूनी दूनी होती गई है। सातवें नरक में पाँचसौ धनुष की ऊँचाई है।

प्रथम नरक पृथ्वी के प्रथम पटल में नारक जीवों के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ प्रमाण है। प्रत्येक पटल के नारकियों की शरीर की ऊँचाई आयु आदि निकालने के लिए करण सूत्र कहते हैं:—

"आदीअंतविसेसे रूऊणद्धाहिदम्हि हाणिचयं"

अर्थ—आदि के प्रमाण में से अन्त प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उसमें एक कम गच्छ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना नीचे के पटल पटल प्रति बढ़ने का प्रमाण होता है। यहाँ प्रकृत में प्रथम नरक के प्रथम पटल में तीन हाथ का उत्सेध (ऊंचाई) है सो सो आदि जानना और प्रथम नरक के अन्तिम पटल का उत्सेध सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है, सो अन्त जानना। इस अंत में से आदि तीन हाथ घटाने से सात धनुष और छह अंगुल रहे। यहाँ तेरह पटल हैं सो गच्छ का प्रमाण तेरह में से एक घटाने पर बारह रहे, उसका भाग सात धनुष के अठाईस हाथ में देने पर दो तो हाथ हुए और शेष चार हाथ रहे। उनके छियानवे अंगुल हुए और पूर्व छह अंगुल थे उनको इनमें मिलाने पर एक सो दो अंगुल में बारह का भाग देने पर आठ लब्ध आये सो ८ अंगुल हुए। शेष छह रहे, उनमें बारह का भाग देने पर आधा अंगुल और हुआ। इस प्रकार प्रति पटल दो हाथ, साढ़े आठ अंगुल बढ़ने का प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रमाण को प्रथम पटल के उत्सेध तीन हाथ प्रमाण में जोड़ने पर दूसरे पटल के नारक जीवों के शरीर का पांच हाथ, साढ़े आठ अंगुल प्रमाण उत्सेध होता है। (चार हाथ का एक धनुष और चौबीस अंगुल का एक हाथ होता है।) उक्त प्रकार चय (दो हाथ साढ़े आठ अंगुल) पूर्व पूर्व पटल के उत्सेध में मिलाने से उत्तर उत्तर पटल के उत्सेध का प्रमाण होता है। उक्त क्रमसे तीसरे पटल के नारकों के शरीर का उत्सेध एक धनुष तीन हाथ सत्रह अंगुल होता है। इसी प्रकार प्रथम नरक के सब पटलो में समझ लेना चाहिए।

द्वितीयादि पृथ्वी के विषय में भी पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है वह तो आदि और विवक्षित पृथ्वी के अन्त पटल का जो उत्सेध है उसे अन्त स्थापन कर आदि को अन्त में से घटाना चाहिए। यहां पर पूर्व पृथ्वी के अन्त पटल को आदि कहा है; इसलिए विवक्षित पृथ्वी में जितने पटल का प्रमाण है उससे एक अधिक गच्छ कर उसमें से एक को घटाने पर जो प्रमाण हुआ उसका भाग देने पर जो लब्ध आता है वह चय होता है। जैसे द्वितीयादि पृथ्वी के विषय में आदि तो सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल और अन्त पन्द्रह धनुष, दो हाथ,

बारह अंगुल है। यहाँ आदि को अन्त में से घटाने पर सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल रहे। उन में द्वितीय पृथ्वी के पटल प्रमाण ग्यारह का भाग देने व धनुष आदि के हस्तादि करलेने पर दो हाथ, बीस अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवां भाग प्रमाण, चय आया। इसी प्रकार तृतीयादि पृथ्वी में भी चय का प्रमाण साधन करना चाहिए।

यहाँ प्रथम पृथ्वी के अन्त पटल के सात धनुष, तीन हाथ, छह अंगुल उत्सेध में चय का प्रमाण दो हाथ, बीस अंगुल और दो अंगुल के ग्यारहवें भाग को मिलाने पर द्वितीय पृथ्वी के प्रथम पटल का आठ धनुष, दो हाथ, दो अंगुल और दो अंगुल का ग्यारहवां भाग प्रमाण उत्सेध होता है। इसी प्रकार द्वितीयादि पटल का उत्सेध लाने के लिए पूर्व पटल के प्रमाण में चय का प्रमाण जोड़ते जाना चाहिए। द्वितीय पृथ्वी के उत्सेध प्रमाण के अनुक्रम से तृतीयादि पृथ्वी के उत्सेध का प्रमाण साधन करना चाहिए।

नारक जीवों का अवधिज्ञान का क्षेत्र

रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकों का अवधिज्ञान का क्षेत्र चारकोश प्रमाण है। शर्करादि शेष छह पृथ्वी के नारको के अवधिज्ञान का क्षेत्र क्रमसे प्रति पृथ्वी आधा आधा कोश हीन होता गया है। अर्थात् साढ़े तीन, तीन, ढाई, दो, डेढ और एक कोश क्षेत्र प्रमाण अवधिज्ञान क्रमसे द्वितीयादि पृथ्वी के नारकों का होता है।

नरक से निकले हुए जीवों के उत्पत्ति का नियम

नरक से निकले हुए जीव मनुष्य व तिर्यंच गति में ही उत्पन्न होते हैं। देव और नरक गति में जन्म नहीं लेते हैं। मनुष्य और तिर्यंचों में भी कर्मभूमि के संज्ञी पर्याप्तक गर्भजों में ही उत्पन्न होते हैं। सप्तम पृथ्वी के निकले हुए जीव कर्मभूमिज संज्ञी पर्याप्त गर्भज तिर्यंच ही होते हैं, मनुष्य नहीं होते। तिर्यंचो में भी हिंसक सिंहादि क्रूर पशु ही होते हैं।

नरक से निकले हुए जीव नारायण, बलभद्र, चक्रवर्ती नहीं होते हैं। चतुर्थादि पृथ्वी से निकले हुए जीव तीर्थंकर नहीं होते हैं। पाँचवी आदि पृथ्वी से निकले हुए चरमशरीरी नहीं होते। छठी आदि पृथ्वी से निकले हुए सकल-संयमी नहीं होते। तथा सातवीं पृथ्वी से निकले हुए सासादन, मिश्र (तीसरे गुणस्थान वर्ती), असंयत व देशसंयत नहीं होते हैं।

नरक में गमन करने वाले जीवों का नियम

असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और सरीसृप (गिर्गट छिपकली आदि) प्राणी और भेरुंड आदि पक्षी, सर्प, सिंह, मानुषी स्त्री, मत्स्य और

मनुष्य इनकी प्रथमादि पृथ्वी में निरन्तर उत्पत्ति आठ बार से लेकर दो बार तक जाननी चाहिए। अर्थात् असंज्ञी मर कर प्रथम नरक में जाकर वहाँ से निकल संज्ञी हो मरकर फिर वहाँ हो असंज्ञी हो, मरकर फिर प्रथम नरक जावे तो एक बार होता है। ऐसे असंज्ञी अधिक से अधिक आठ बार प्रथम नरक में जाता है। नरक से निकला हुआ असंज्ञी नहीं होता है; अतः मध्य में एक संज्ञी पर्याय का अन्तर होता है। सरीसृपादि में एक अन्तर न ग्रहण करना। सरीसृप दूसरे नरक जाकर वहाँ से सरीसृप हो फिर दूसरे नरक में जावे। ऐसे निरन्तर सात बार जा सकता है। ऐसे ही पक्षी निरन्तर तीसरे नरक में छह बार जा सकता है। सर्प चौथे नरक में पाँच बार जा सकता है। सिंह पाँचवें नरक में चार बार जा सकता है। स्त्री छठे नरक में तीन बार निरन्तर जन्म ले सकती है। तथा मत्स्य व मनुष्य एक अन्तर देकर सातवें नरक में निरन्तर दोबार उत्पन्न हो सकते हैं। उनमें से मत्स्य सातवें नरक जाकर वहाँ से निकल कर गर्भज तिर्यंच होता है। मरकर फिर मत्स्य होकर सातवें नरक में जाता है। क्योंकि वहाँ नरक से निकला हुआ सम्मूर्छन नहीं होता है और मत्स्य सम्मूर्छन है, इसलिए यहाँ एक अन्तर कहागया है। इसी प्रकार मनुष्य में भी एक अन्तर जानना चाहिए। क्योंकि सातवें नरक से निकला जीव मनुष्य नहीं होता है, इसलिए बीच में एक अन्तर रहा है। इस प्रकार दोबार उत्पत्ति का नियम कहा है।

यहाँ जीवों के उत्पन्न होने का भी नियम जान लेना चाहिए। असंज्ञी जीव प्रथम पृथ्वी में ही उत्पन्न हो सकता है; द्वितीयादि पृथ्वी में उत्पन्न नहीं हो सकता। सरीसृप दूसरी पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है, तृतीयादि पृथ्वी में जन्म धारण नहीं कर सकता। पक्षी तृतीय पृथ्वी तक उत्पन्न हो सकता है, आगे जन्म नहीं लेता। सर्प चतुर्थ पृथ्वी पर्यन्त जन्म ले सकता है आगे नहीं जा सकता। सिंह पांचवीं तक, स्त्री छठी तक और पुरुष एवं मत्स्य सातवीं पृथ्वी पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं।

नरक पृथ्वी में जीवोत्पत्ति का अन्तर

प्रथम पृथ्वी में कोई जीव उत्पन्न न हो तो उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त पर्यन्त उत्पन्न नहीं होता है और न मरता है। चौबीस मुहूर्त के पश्चात् कोई न कोई अवश्य जन्म लेता है अथवा कोई अवश्य मरता है। ऐसे ही द्वितीय पृथ्वी में सात दिन का, तृतीय पृथ्वी में एक पक्ष का, चतुर्थ पृथ्वी में एक मास का, पाँचवीं में दो मास का, छठी में चार मास का और सातवीं पृथ्वी में छह मास का जन्म मरण का अन्तर है।

भवनवासियों के आवास

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग व पङ्क भाग में भवनवासी व व्यन्तर देवों के भवन् बने हुए हैं। उनमें से भवनवासी देवों का संक्षेप से वर्णन करते हैं—

असंख्यात द्वीप समुद्रों के बीतने के बाद शेष असंख्यात द्वीप समुद्रों के नीचे भवनवासी और व्यन्तर देवों के भवन बने हुए हैं।

भवनवासी देवों के सात करोड़ बहत्तर लाख भवन हैं, तथा एक-एक भवन में एक एक चैत्यालय है; इसलिए जितने भवन हैं उतने ही चैत्यालय हैं।

भवनवासी देवों के भेद

भवनवासी देवों के दश भेद हैं—१—असुर कुमार, २ नागकुमार, ३ विद्युत्कुमार, ४ सुपर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार, ८ उदधिकुमार, ९ द्वीपकुमार और दिक्कुमार। उक्त प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र हैं।

असुर कुमार में चमर और वैरोचन, नागकुमार में भूतानन्द और धरणानन्द, विद्युत्कुमार में घोष और महाघोष, सुपर्णकुमार में वेणु और वेणुधारी, अग्निकुमार मे अग्निशिखी और अग्निवाहन, वातकुमार मे वेलम्ब और प्रभंजन, स्तनितकुमार में हरिषेण और हरिकान्त उदधिकुमार मे जलप्रभ और जलकान्त, द्वीपकुमार मे पूर्ण और वशिष्ट, दिक्कुमार मे अमितगति और अमितवाहन इस प्रकार प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र कहे गये हैं।

इन्द्रों में परस्पर ईर्ष्या

चमरेन्द्र तो सौधर्म इन्द्र (शक्र) के साथ और भूतानन्दइन्द्र वेणुइन्द्र के साथ तथा वैरोचन ईशानइन्द्र के साथ और धरणानन्द वेणुधारीइन्द्र के साथ स्वाभाविक ईर्ष्या करते हैं। अर्थात् दो दो इन्द्रो में से प्रथम प्रथम इन्द्र सौधर्मादि युगलों के प्रथम इन्द्र के साथ, तथा द्वितीय, द्वितीयस्वर्ग के इन्द्र के साथ स्वभावतः ईर्ष्याभाव रखते हैं।

भवनवासी देवों के चिह्न

असुरादि देवो के मुकुट में क्रमसे चूडामणि, सर्प, स्वस्तिक, गरुड, कलश, घोड़ा, वज्र, मगर (मच्छ), हस्ती और सिंह के चिह्न पाये जाते हैं। तथा चैत्यवृक्ष और ध्वजा भी इनके चिह्न हैं। अश्वत्थ, सप्तपर्ण आदि दश प्रकार के चत्यवृक्ष भी इनके चिह्न हैं। इन वृक्षों के मूल में प्रतिदिशा मे (हरएक दिशा) में पाँच पाँच प्रतिमाएँ हैं, जिनकी देव पूजा करते हैं। इन प्रतिमाओं (चैत्य) के सम्बन्ध से इनको चैत्यवृक्ष कहते हैं।

भवनवासी देवों के भवनों की विशेषताएँ

भवनवासी देवों के भवन सुगंधित एवं पुष्पों से वासित रत्नमय भूमि से भूषित हैं, उनकी दीवारें भी रत्नों की होती हैं और नित्य

प्रकाश युक्त हैं। वे सम्पूर्ण इन्द्रियों को सुख देनेवाले चन्दनादि पदार्थों से व्याप्त होते हैं और उनमे निवास करनेवाले असुरकुमारादि देव अणिमा, महिमा आदि अष्ट ऋद्धि के धारक होते हैं, तथा वे नाना प्रकार के मणिनिर्मित झिलमिलाते हुए मुकुट, कटक, अंगद, हार आदि अलंकारों से देदीप्यमान व अलंकृत होते हैं। वे अपनी पूर्व-संचित तपस्या के फल का भोग करते हैं। उनके भवन भूमिगृह (तहखाने) के समान हैं। वे रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग और पंकभाग में हैं। उन भवनों की चौड़ाई व लम्बाई जघन्य तो संख्यात कोटि योजन और उत्कृष्ट असंख्यात कोटि योजन प्रमाण है। ये भवन चौकोर होते हैं। इनकी ऊँचाई तीन सौ योजन प्रमाण है। प्रत्येक भवन के मध्य भाग मे सौ योजन ऊँचा एक २ पर्वत है। उसके ऊपर चैत्यालय बने हुए हैं।

व्यंतरादि देवों के आवास स्थान

चित्रा भूमि के नीचे एक हजार योजन जाकर व्यन्तर देवों के आवास बने हुए हैं। दो हजार योजन जाकर अल्प ऋद्धि धारक भवनवासियो के भवन हैं। तथा बियालीस हजार योजन जाकर महर्द्धि धारक भवनवासियों के भवन हैं और एक लक्षयोजन पर मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासियो के भवन हैं। भवनवासियों में असुर कुमारों के और व्यन्तरों मे राक्षसों के भवन पङ्कभाग में हैं।

देवों में इन्द्र व प्रतीन्द्र का क्रम

ज्योतिष व व्यन्तर देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं। अर्थात् भवनवासी और सोलह स्वर्गों के विमानवासियों में तो १ इन्द्र, २ सामानिक, ३ त्रायस्त्रिंश, ४ पारिषद्, ५ आत्मरक्ष, ६ लोकपाल, ७ अनीक, ८ प्रकीर्णक, ९ आभियोग्य और १० किल्बिषिक ये दश प्रकार के भेद प्रत्येक इन्द्र के साथ होते हैं। किन्तु ज्योतिष और व्यन्तरों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये दो भेद नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं। सोलह स्वर्गों के ऊपर नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंचानुत्तर विमानों में इन्द्रादि भेद नहीं होते। वे सब अहमिन्द्र होते हैं। अपने २ भेद में उनमें हीनाधिकपना नहीं होता है। इन्द्र के साथ एक प्रतीन्द्र होता है, वह युवराज के समान माना गया है। भवनवासियों के प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। अर्थात् भवनवासियों के बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र तथा व्यन्तरों में सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र होते हैं। शेष ज्योतिष देवों मे एक इन्द्र और एक प्रतीन्द्र तथा वैमानिक सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र व बारह ही प्रतीन्द्र होते हैं।

इन्द्रों की सभा, सेना व देवांगनाएँ

प्रत्येक इन्द्र के तीन तीन परिषद् (सभा) होती हैं—अंतः, मध्य और बाह्य परिषद्। अन्तःपरिषद् को समित कहते हैं, मध्य परिषद् को चन्द्रा और बाह्य परिषद् को जतु इस नाम से कहते हैं। ऐसे ही सम्पूर्ण देवों की सभाओं के नाम हैं।

प्रत्येक इन्द्र के सात सात अनीक (सेनाएँ) होती हैं। असुर कुमार के १ महिष (भैंसा) २ घोटक (घोड़ा) ३ रथ ४ हाथी, ५ प्यादे, ६ गन्धर्व और ७ नर्तकी ये सात प्रकार की सेना है। उक्त सात प्रकार की सेना एक से दूसरे इन्द्र के दूनी दूनी होती चली गई है। असुर कुमार के अनीक के प्रथम भेद मे भैंसा था। नागकुमार के प्रथम भेद मे नाव या सर्प, सुपर्ण कुमार के गरुड़, द्वीप कुमार के हाथी, उदधिकुमार के मगर, विद्युत्कुमार के ऊंट या गैंडा, स्तनित कुमार के सूर, दिक्कुमार के सिंह, अग्निकुमार के शिविका (पालकी) और वातकुमार के अश्व ये प्रथम भेद में हैं। शेष छह भेद असुर कुमार देवों के समान हैं।

असुर कुमार के इन्द्र के छप्पन हजार देवाङ्गनाएँ हैं, उनमें से सोलह हजार वल्लभिका (अतिप्रिय देवांगना), पांच महादेवियाँ, और पांच कम चालीस हजार परिवार देवियाँ हैं। नागकुमार इन्द्र के पचास हजार देवियाँ हैं। सुपर्ण कुमार इन्द्र के चवालीस हजार देवियाँ हैं। शेष द्वीप कुमारादि सात भेदों मे बत्तीस बत्तीस हजार देवियाँ हैं। उनमें दो दो हजार तो वल्लभिका हैं, पांच पांच महादेवी हैं और शेष सामान्य देवांगना हैं।

असुरकुमार, नागकुमार व सुपर्णकुमार इन तीन भेदों के इन्द्रों के महादेवियाँ यदि विक्रिया करें तो एक एक महादेवी आठ आठ हजार मूल शरीर सहित विक्रिया कर सकती हैं, और शेष सात भेदों के इन्द्रों की महादेवियाँ छह छह हजार मूलशरीर सहित विक्रिया करती है। अर्थात देवियों के इतने रूप धारण कर सकती हैं।

चमरेन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु ढाई पल्य प्रमाण, वैरोचनेन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन पल्य प्रमाण, तथा नागेन्द्र की देवियो की आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण, गरुडेन्द्र की देवाङ्गनाओं की आयु तीन कोटि पूर्व प्रमाण और शेष इन्द्रों के देवियो की आयु तीन कोटि प्रमाण है।

असुरादि देवों के श्वासोच्छ्वास तथा आहार का क्रम

असुर कुमार जाति के देवों के एक पक्ष बीतने पर एक बार श्वासोच्छ्वास होता है व एक हजार वर्ष बीतने पर एक बार आहार होता है। नागकुमार, सुपर्णकुमार व द्वीपकुमार के साढ़े बारह मुहूर्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढ़े बारह दिन बीतने पर आहार होता है। उदधिकुमार, विद्युत्कुमार के बारह मुहूर्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और बारह दिन बीतने पर आहार होता है। अवशेष दिक्कुमार, अग्निकुमार और वातकुमार के साढ़े सात मुहूर्त बीतने पर श्वासोच्छ्वास और साढ़े सात दिन बीतने पर आहार होता है।

देवों के शरीर का उत्सेध

असुर कुमार देवो के शरीर का उत्सेध (ऊँचाई) पच्चीस धनुष प्रमाण और शेष कुमारों का शरीरोत्सेध दश धनुष प्रमाण है। व्यन्तर देवों के शरीर का उत्सेध दश धनुष और ज्योतिष देवों का सात धनुष प्रमाण है।

व्यन्तर देव

व्यन्तर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद हैं। राक्षस के अतिरिक्त सब व्यन्तर देवों के आवास खर पृथ्वी भाग के एक हजार योजन नीचे जाकर बने हुए हैं।

व्यन्तरों के शरीर का वर्ण

किन्नरों का प्रियंगुफल समान वर्ण है। किम्पुरुषों का धवल वर्ण है। महोरगों का काला (श्याम) वर्ण है। गन्धर्वों का स्वर्ण समान वर्ण है। यक्ष, राक्षस और भूत इन तीनों का श्याम वर्ण है। पिशाचों का काला वर्ण है। इन देवों के शरीर अगर, चन्दनादि के लेप व आभूषणों से भूषित हैं।

व्यन्तरों के चैत्यवृक्ष

उन व्यन्तरों के अनुक्रम से अशोक, चम्पक, नागकेसर, तुंबरु, वट, कंटतरु, तुलसी और कदम्ब ये चैत्यवृक्ष हैं। उनके मूल में पल्यंकासनवाली प्रतिमाएँ एक एक दिशा मे चार चार विराजमान हैं। वे प्रतिमाएँ चार तोरण द्वारों से संयुक्त हैं और जो भवन में चैत्यवृक्ष हैं उनका जम्बूद्वीप के वर्णन में जम्बू वृक्ष के परिकर का जो प्रमाण कहेंगे, उससे अर्ध प्रमाण समझना चाहिए।

व्यन्तरों में इन्द्र, प्रतीन्द्र, देवांगना व सेना

उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरों के प्रत्येक भेद में दो दो इन्द्र और दो दो प्रतीन्द्र होते हैं। इनमें प्रत्येक इन्द्र के दो दो वल्लभिका (अतिप्रिय) देवियां होती हैं। ये प्रत्येक देवी एक एक हजार देवांगना से संयुक्त होती है। एक एक इन्द्र सम्बन्धी दो दो गणिका महत्तरी होती हैं। जिस प्रकार यहाँ पर वेश्या होती हैं, उसी प्रकार वहाँ पर जो देवांगना होती हैं, उन्हें गणिका कहते हैं और उन में जो प्रधान होती हैं उन्हें महत्तरी कहते हैं।

व्यन्तरों में हर एक इन्द्र के सात सात प्रकार की सेनाएँ और प्रत्येक सेना के सात सात कक्ष (सेना) और होते हैं। सात प्रकार सेना के नाम हाथी, घोड़े, प्यादे, रथ, गन्धर्व, नर्त्तकी और वृषभ ये हैं। इन सेनाओं में एक महत्तर (प्रधान) होता है। उनके अनुक्रम से १ सुज्येष्ठ, २ सुग्रीव, ३ विमल, ४ मरुदेव, ५ श्रीदामा, ६ दामश्री, और विशाल ये सात नाम हैं।

व्यन्तरों के इन्द्रों के नगर

आंजनक, वज्रधातुक, सुवर्ण, मनःशिलक, वज्र, रजत, हिंगलुक और हरिताल-इन आठ द्वीपों में क्रमसे किन्नरादि इन्द्रों के नगर बने हुए हैं। प्रथम इन्द्र के उत्तर मे और द्वितीय इन्द्र के दक्षिण में नगर हैं। प्रत्येक इन्द्र के पांच पांच नगर हैं। एक मध्य में और चार चारों दिशाओ मे होते हैं। मध्य मे जो नगर हैं, वह इन्द्र के नाम पर हैं और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर में जो नगर हैं उनके नाम इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभ, कान्त, आवर्त्त और मध्य ये लगादेने पर हो जाते हैं। जैसे किन्नरेन्द्र के पांच नगर उत्तर दिशा में हैं। उनमें जो बीच मे है, उसका नाम किन्नरपुर है। उसकी पूर्व दिशा में किन्नरप्रभ नगर है, दक्षिण दिशा में किन्नरकान्त नगर है, पश्चिम दिशा में किन्नरावर्त्त नामक नगर और उत्तर दिशा में 'किन्नरमध्य नामक नगर है। इसी प्रकार सब नगर इन्द्रों के नाम से होते हैं। इन्द्रों के ये सब नगर एक लक्ष योजन विस्तार वाले हैं और समतल भूमि पर हैं। न तो पर्वतादि ऊँचे प्रदेश पर हैं और न भूमि के नीचे हैं। उन नगरों के चारों ओर प्राकार (कोट) हैं। उनकी ऊँचाई साढ़े सैंतीस योजन, चौड़ाई साढ़े बारह योजन और मोटाई ढाई योजन है। इन कोटों के द्वार (दर्वाजे) हैं, उनकी ऊँचाई साढ़े बासठ योजन और चौड़ाई सवा इकतीस योजन है। दर्वाजे पर पचहत्तर योजन प्रमाण ऊंचा सुन्दर प्रासाद है। उस प्रासाद के अभ्यन्तरभाग में सुधर्मा नामकी सभा है। वह साढे बारह योजन लम्बी, सवा छह योजन चौडी और नव योजन ऊंची है। उसका अवगाह (मूल-नींव) एक कोश प्रमाण है। इसी प्रकार सब इन्द्रों के नगर प्राकारादि की रचना व प्रमाण जानना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग में भूतों के चोदह हजार भवन हैं और पंकप्रभा में राक्षसों के सोलह हजार भवन है। व्यन्तर देवों की जो गणिका महत्तरी है, उसके नगर अपने २ इन्द्र सम्बन्धी द्वीपों में हैं और अपने २ इन्द्रपुरों के दोनों पार्श्व भागों में हैं। उनकी लंबाई व चौड़ाई चौरासी लाख योजन प्रमाण है। शेष जो व्यन्तर हैं उनके नगर अनेक द्वीप व समुद्रों में पाये जाते हैं।

वाणव्यन्तरों के भेद, आवासस्थान और उनकी आयु

उक्त भेदों के अतिरिक्त व्यन्तर देवों में जो वाणव्यन्तर हैं, उनके स्थान पृथ्वी के ऊपर हैं। १ नीचोपपाद, २ दिग्वासी, ३ अन्तरनिवासी, ४ कूष्माण्ड, ५ उत्पन्न, ६ अनुत्पन्न, ७ प्रमाणक, ८ गन्ध, ९ महागन्ध, १० भुजंग, ११ प्रीतिक, और १२ आकाशोत्पन्न ये उनके नाम हैं। पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र में नीचोपपाद वाणव्यन्तर हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में दिग्वासी वाणव्यन्तर देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में अन्तरनिवासी देव हैं। उनके ऊपर दशहजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में कूष्माण्ड हैं। उनके ऊपर बीस हजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में उत्पन्न वाणव्यतर हैं। इसी प्रकार अनुत्पन्नादि में बीस बीस हजार हाथ का अन्तराल समझना चाहिए।

नीचोपपाद देवों की आयु दशहजार वर्ष, दिग्वासी देवों की बीसहजार, अन्तरनिवासी की तीस हजार, कुष्माण्ड देवों की चालीस हजार, उत्पन्न देवों की पचास हजार, अनुत्पन्न देवों की साठ हजार, प्रमाणक देवों की सत्तर हजार, गन्ध देवों की अस्सी हजार, महागन्ध देवों की चौरासी हजार, भुजंग देवों की पल्य के आठवें भाग प्रमाण, प्रीतिक देवों की पल्य के चौथे भाग प्रमाण और आकाशोत्पन्न देवों की आधे पल्य प्रमाण आयु है।

व्यन्तरों के निलय

व्यन्तरों के निवास स्थानों के तीन नाम हैं—भवनपुर, आवास और भवन। उनमें से द्वीप समुद्रों में भवनपुर पाये जाते हैं जलाशय (सरोवर आदि) वृक्ष, पर्वत आदि में आवास और चित्रा पृथ्वी के नीचे भवन पाये जाते हैं। जो पृथ्वी से ऊंचे स्थान में निवास स्थान हैं–उन्हें आवास कहते हैं, जो पृथ्वी के नीचे हैं–उन्हें भवन और जो पृथ्वी के समतल प्रदेश पर हैं–उन्हें भवनपुर कहते हैं। ऐसे तीन प्रकार के निलय हैं।

व्यंतरों के रहने के क्षेत्र

चित्रा और वज्रा पृथ्वी के मध्य सन्धि से लेकर जितनी मेरुपर्वत की ऊँचाई है यहां तक, और तिर्यक् लोक का जितना विस्तार है वहाँ तक, विस्तृत क्षेत्र में व्यन्तरों के यथायोग्य भवनपुर या भवन या आवास हैं और उनमें वे निवास करते हैं।

कितने ही व्यंतरों के तो भवन ही हैं, तथा कितने ही के भवन और भवनपुर हैं। कई एक के भवन, पुर और आवास तीनों ही हैं।

असुरकुमार के सिवा अन्य कई एक भवनवासी देवों के भवन, भवनपुर या आवास तीन निलय पाये जाते हैं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी के नीचे खरभाग और पंकभाग में तथा पृथ्वी से ऊपर पर्वतादि पर और समतल भूमि पर व्यन्तरों और भवनवासियों के स्थान पाये जाते हैं। जो उत्कृष्ट भवन हैं वे तो बारह हजार तीन-सौ योजन ऊँचे हैं। तथा जितनी भवनों की ऊंचाई है, उसके तीसरे भाग प्रमाण ऊंचे कूट पाये जाते हैं और इन कूटों पर जिन मन्दिर हैं। उत्कृष्ट भवनों के चारों ओर आठ योजन ऊंची वेदी पाई जाती है तथा जघन्य भवनों के पच्चीस धनुष ऊंची वेदी होती है जैसे बाग बगीचे के चारों ओर दीवार होती है उसी प्रकार वेदी होती है।

गोल आदि आकारवाले जो पुर हैं, उनका क्रमसे उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन प्रमाण है और जघन्य विस्तार एक योजन

प्रमाण है। तथा गोल आदि आकार वाले जो आवास हैं उनका उत्कृष्ट विस्तार बारह हजार दोसौ योजन है और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन आवासादि के कोट, द्वार, नृत्यशाला इत्यादि पाये जाते हैं।

व्यन्तरों के आहार कुछ अधिक पाँच दिन बीतने पर होता है और उच्छ्वास कुछ अधिक पाँच मुहूर्त जाने पर होता है।

मध्यलोक

इस चित्रा पृथ्वी के एक हजार योजन नीचे से लेकर मेरु पर्वत की चूलिका तक मध्यलोक माना गया है। मध्यलोक की ऊंचाई मेरु प्रमाण है। इसका आशय यह है कि एक हजार योजन का उसका अवगाह है और एक हजार योजन कम एक लक्ष योजन प्रमाण यह चित्रा पृथ्वी के समतल से ऊंचा है, तथा चालीस योजन प्रमाण उसकी चूलिका है।

इस मध्यलोक मे ही ज्योतिष देवों के विमान हैं। इस चित्रापृथ्वी के समतल भूभाग मे सातसौ निव्वे योजन से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारंभ होता है और नवसौ योजन पर उनका क्षेत्र समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दस योजन प्रमाण ऊंचे (मोटे) आकाश क्षेत्र में ज्योतिष देवों के निवास (विमान) हैं। इसलिए इनका वर्णन भी इसी मध्यलोक में आगे करेंगे।

यहाँ पर तिर्यक्लोक का संक्षिप्त निरूपण करते हैं।

जंबूद्वीप का वर्णन

इस लोक में तिर्यक् असंख्यात द्वीप व समुद्र हैं। उन सब के मध्य में एक लक्ष योजन के विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) वाला जम्बूद्वीप है। उसके ठीक मध्य भाग में मेरुगिरि है। उसकी दक्षिण दिशा से लेकर १ भरत, २ हैमवत, ३ हरि, ४ विदेह, ५ रम्यक, ६ हैरण्यवत और ७ ऐरावत ये सात वर्ष (क्षेत्र) हैं। इन क्षेत्रों (देशों) की सन्धि पर अर्थात् एक २ क्षेत्र के अनन्तर एक एक पर्वत है, जिन्हें कुलाचल कहते हैं। ऐसे कुलाचल छह हैं—१ हिमवान्, २ महाहिमवान्, ३ निषध, ४ नील, ५ रुक्मी और ६ शिखरी। भरत और हैमवत क्षेत्र के मध्य में (सन्धि पर) हिमवान् कुलाचल है। हैमवत और हरिक्षेत्र के बीच में महाहिमवान् कुलाचल है। हरिक्षेत्र और विदेहक्षेत्र की सन्धिपर निषधाचल है। इसी प्रकार सात क्षेत्रों की सन्धिपर छह कुलाचल हैं। क्षेत्रों का विभाग करने से इनको वर्षधर पर्वत भी कहते हैं।

कुलाचलों का विस्तार और वर्ण

हिमवान् आदि छहों कुलाचल मूल से लेकर ऊपर तक समान चोडाई वाले हैं। जसे महल भवनादि की दीवार नीचे से लेकर ऊपर तक समान चौडी होती है, वैसे ही ये छहों पर्वत नीचे, मध्य में और ऊपर समान चौड़े हैं। अन्य पर्वतों की तरह हीनाधिक विस्तार वाले नहीं है। उनके पार्श्व भाग (पसवाडे) विविध मणियों से चित्रित हैं। उनके दोनों तरफ के सिरे समुद्र को स्पर्श करते हैं। अर्थात् जम्बूद्वीप के कुलाचलों के दोनों तरफ के तट लवण समुद्र को छूते हैं, तथा धातकीखंड के कुलाचलों के एक ओर के तट लवण समुद्र को और दूसरी ओर के तट कालोदधि को छूते हैं और पुष्करार्ध के कुलाचलों के एक ओर के तट तो कालोदधि को और दूसरी ओर के मानुषोत्तर पर्वत को छूते हैं।

इन पर्वतों के वर्ण क्रमशः हेम (सुवर्ण), अर्जुन (चांदी), तपनीय (तपाहुआ सोना), वैडूर्य (नीलमणि), रजत (चांदी) और सुवर्ण के समान हैं। अर्थात् हिमवान् सोने के समान, महाहिमवान् चाँदी के समान, निषध तपेहुए सोने के समान, नील वैडूर्यमणि के समान, रुक्मी चाँदी के समान और शिखरी सोने के समान पीतवर्ण हैं। हिमवान् एकसौ योजन ऊंचा, महाहिमवान् दोसौयोजन, निषध चारसौ योजन, नील चारसौ योजन, रुक्मी दोसौ योजन और शिखरी एकसो योजन ऊंचा है। इन पर्वतों की जितनी ऊंचाई है उसके चतुर्थ भाग (चौथाई) अवगाह (भूमि के अन्दर) हैं।

कुलाचलों पर सरोवर

उक्त छह कुलाचलों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये ह्रद (सरोवर) हैं। इनका व्यास (चौड़ाई), आयाम (लम्बाई) और अवगाह (गहराई) अपने पर्वत की ऊँचाई से क्रमशः पाँचगुणा, दशगुणा और दशवेंभाग प्रमाण है। अर्थात् पद्मह्रद का व्यास (चौड़ाई) पाँचसौयोजन, आयाम (लम्बाई) एक हजार योजन और अवगाह (गहराई) दश योजन प्रमाण है। महापद्म ह्रद की चौड़ाई एक हजार योजन, लम्बाई दो हजार योजन व गहराई बीसयोजन प्रमाण है। तिगिंछ ह्रद की चौड़ाई दोहजार योजन, लम्बाई चारहजार योजन और गहराई चालीस योजन प्रमाण है। इसी प्रकार अपने २ पर्वत की ऊँचाई से ह्रद की चौड़ाई पांचगुनी, लम्बाई दशगुनी और गहराई दशवें भाग प्रमाण समझना चाहिए।

सरोवरों के मध्य कमल और उन पर सपरिवार देवियाँ

उन ह्रदों के मध्य में कमल हैं, ह्रदों की गहराई के दशवें भाग प्रमाण उनके कमलों की ऊंचाई व चौड़ाई है। वे कमल पृथ्वीमय है। वनस्पति काय नहीं है। अर्थात् पद्मह्रद के कमल की ऊंचाई व चौडाई एक योजन, महापद्म के कमल की दो योजन, तिगिंछ ह्रद

के कमल की चारयोजन। इसी प्रकार आगे के ह्रदों के कमलों की ऊंचाई व चौडाई क्रमशः चार, दो और एक योजन प्रमाण है। ये कमल अपनी सुगन्ध से दशों दिशाओं को सुगन्धित करते हैं। इनकी नाल वैडूर्यमणि की बनी हुई है। उसकी ऊंचाई बियालीस कोश प्रमाण है। जिसमें से चालीस कोश प्रमाण नाल तो जल के भीतर रहती है और जलतल से ऊपर दोकोश ऊंची है। तथा एक कोशमोटी है। इसके अन्दरका मृणाल तीनकोश का मोटा रूप्यमय श्वेतवर्ण है। कमल के ग्यारह हजार दल (पाँखुडियाँ) हैं। कमल की जितनी ऊंचाई व चौडाई है उसके अर्द्ध भाग प्रमाण नाल जल के ऊपर निकली हुई है। कमल की कर्णिका की चौड़ाई कमल की ऊंचाई व चौड़ाई से आधी है और प्रत्येक दल की चौड़ाई उसके चतुर्थ भाग प्रमाण है। जैसे पद्मह्रद के कमल की ऊंचाई व चौडाई एक योजन प्रमाण, अतः उसकी नाल उससे अर्ध (दोकोश) प्रमाण जल के ऊपर निकली है। उस कर्णिका की चौडाई दो कोश प्रमाण और उसका प्रत्येक पत्र एक २ कोश प्रमाण चौडा है। ऐसे ही अन्य ह्रदों मे समझलेना चाहिए।

पद्मह्रद के कमल की कर्णिका पर श्रीदेवी का रत्नमय प्रासाद है, जो शरद्-पूर्णिमा के चन्द्रमा की द्युति को लजाने वाला है। उसकी लम्बाई एक कोश, चौडाई आधे कोश और ऊंचाई पोन कोश प्रमाण है। जिस प्रकार पद्मह्रद का वर्णन किया वैसाही महापद्मादि का हैं उनका प्रमाण यथासंभव समझ लेना चाहिए।

पद्मह्रद के कमल की कर्णिका पर जैसे श्रीदेवी निवास करती है, वैसे शेष ह्रदों के कमल की कर्णिकाओं पर क्रमशः ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवी निवास करती हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण है। तथा एक एक कमल के परिवार रूप एक लाख चालीस हजार एकसौ पन्द्रह कमल उसी ह्रद मे स्थित हैं।

पद्मह्रद सम्बन्धी कमलों पर श्रीदेवी का परिवार स्थित है उसे दिखाते हैं।

मूल कमल के अग्निकोण, दक्षिण, और नैऋत्य दिशा मे जों कमल हैं उनपर श्रीदेवी के आदित्य, चन्द्र और जतु परिषद् के पारिषद्देव निवास करते है। आदित्य (आभ्यन्तर) परिषद के पारिषद् देव बत्तीस हजार हैं। चन्द्र (मध्य) परिषद् के पारिषद्देव चालीस हजार और जतु (बाह्य) परिषद् के पारिषद्देव अड़तालीस हजार हैं। एक एक पारिषद् देव के निवास के लिए एक एक कमल पर प्रसाद बने हैं। सात प्रकार की सेना के देवों के निवास करने के लिए मूल कमल से पश्चिमदिशा में सात कमलों पर प्रासाद हैं तथा सामानिक देवों के कमल उत्तर दिशा के दोनो कोनों में चार हजार हैं। और इन कमलों के अभ्यन्तर मूल कमल की तरफ एक एक दिशा में चार-चार हजार अंगरक्षकों के कमलों पर मन्दिर (प्रासाद) है। प्रतीहार महत्तरो के एक सौ आठ कमल, उन अंगरक्षकों के कमलों के अभ्यन्तर मूल कमल के निकट दिशा व विदिशा मे स्थित हैं।

ये सब परिवार-कमल भी मणिमय है। जलतल से ऊँचे नहीं हैं। तथा परिवार-कमल की ऊँचाई, चौड़ाई आदि मूल कमल से अर्धप्रमाण जाननी चाहिए। अर्थात् श्रीदेवी के प्रासाद की जितनी ऊँचाई-चौड़ाई आदि बतलाई गई है उससे आधी परिवार-कमलों की है।

श्री, ह्री व धृति ये तीन तो सौधर्म इन्द्र की देवियाँ हैं। और कीर्ति, बुद्धि व लक्ष्मी ये तीन ईशान इन्द्र की देवियाँ हैं।

ह्रदों से नदियों का उद्‌गम

उन ह्रदों से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह महानदियाँ निकली हैं। इनमें से दो दो नदियों के सात युगलों में पूर्व की (गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकूला, रक्ता) ये सात नदियाँ पूर्वदिशा की ओर मुख करके तथा शेष नदियाँ पश्चिम दिशा की ओर मुख करके क्षेत्रों के बीच में स्थित पर्वतों की प्रदक्षिणा देकर समुद्र में मिली हैं।

उक्तनदियों के दोनों तट पुन्नाग, नागकेसर, सुपारी, अशोक, तमाल, कदली (केला), ताम्बूली, बडी इलायची, लवंग, मालती आदि के वृक्ष और लताओं से सुशोभित हैं।

आदि के पद्म ह्रद से गंगा, सिन्धु और रोहितास्या ये तीन नदियाँ और अन्त के पुण्डरीक ह्रद से रक्ता, रक्तोदा और सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकली हैं। शेष चार ह्रदों से दो दो नदियाँ निकली हैं। भरत व ऐरावत में नाभिगिरि नहीं हैं; इसलिए इन क्षेत्रों में बहने वाली गंगा, सिन्धु और रक्ता, रक्तोदा इन चारों नदियों को छोड़कर शेष नदियाँ क्षेत्र के मध्य में स्थित नाभिगिरि को आधायोजन छोड़कर समुद्र में मिली हैं। विदेह क्षेत्र में मेरुपर्वत है, उसे यहाँ नाभिगिरि कहा है। हैमवत, हरिरम्यक और हैरण्यवत में नाभिगिरि विद्यमान ही हैं। नदियाँ ह्रद से निकल कर नाभिगिरि के सम्मुख सीधी आकर, आधे योजन दूर से मुड़कर नाभिगिरि की अर्ध प्रदक्षिणा करके समुद्र में जा मिली हैं।

गंगा नदी के निकास और गमनादि

पद्म-ह्रद के पूर्वदिशा में वज्र द्वार है, उससे गंगानदी निकलकर हिमवान् पर्वत के ऊपर पूर्वदिशा की ओर पाँचसौ योजन जाकर हिमवान् पर्वत पर स्थित जो गंगा कूट है उससे आधा योजन पहले मुडगई है। वहाँ से दक्षिण दिशा की तरफ पांचसौ तेईस योजन और कुछ अधिक आधे कोश जाकर पर्वत के तट पर पहुँची है। पर्वत पर गंगा नदी का व्यास सवा छह योजन प्रमाण है। जिस तट से गंगा नदी नीचे गिरती है, उस तटपर मणिनिर्मित दो कोश लम्बी व ऊँची प्रणाली है। उस प्रणाली के मुख, कान, जीभ और नेत्र के आकार तो सिंह के समान हैं तथा भौंह मस्तक आदि का आकार गौके समान है; इसलिए मुख्यरूप से प्रणाली को वृषभाकार कहते हैं। उससे गंगा

नदी हिमवान् पर्वत से पच्चीस योजन की दूरी पर काहला के आकार होकर (कमशः चौड़ाई बढती हुई) दशयोजन की चौड़ाई को लिये हुए भरत क्षेत्र मे हिमवान् पर्वत के मूल में दश योजन गहरे और साठ योजन चौड़े गोल कुण्ड में गिरी है।

उस कुण्ड के बीच मे जल से ऊपर आधा योजन ऊँचा और आठ योजन चौड़ा गोल द्वीप है। उस द्वीप के मध्य मे वज्रमय दशयोजन ऊँचा एक पर्वत है। उसका व्यास (चौड़ाई) पृथ्वी पर चार योजन, मध्य में दो योजन और अग्रभाग में एक योजन प्रमाण है। उस पर्वत पर श्री देवी का मन्दिर है। जो नीचे तीन हज़ार धनुप, मध्य में दो हजार धनुष और ऊपर में एक हज़ार धनुष प्रमाण चौड़ा है और दो हजार धनुप ऊँचा है। उसका अभ्यन्तर का व्यास साढे सात सौ धनुष प्रमाण है। उस मन्दिर के द्वार की चौडाई चालीस धनुष और ऊँचाई अस्सी धनुप है। उस द्वार के वज्रमय दो कपाट हैं।

उक्त मन्दिर के मस्तक पर एक पार्थिव कमल है। उसकी कर्णिका पर सिंहासन है। उस पर जटा सहित जिनबिम्ब है। उस को अभिपेक करने के लिए ही मानों उसके मस्तक पर गंगा का अवतरण हुआ है। अर्थात् जिनबिम्ब के मस्तक पर गंगा नदी गिरती है।

कुंड से निकल कर गंगा नदी सीधी दक्षिण दिशा में जाकर विजयार्ध पर्वत की खंडप्रपात नामा गुफा में प्रवेश करती है। वहाँ यह आठ योजन चौडी होगई है और गुफा के उत्तर द्वार से बाहर निकली है। उक्त गुफा के पूर्व पश्चिम दिशा की दीवार के निकट दो कुण्ड हैं, उनसे दो योजन चौडी ,उन्मग्नजला और निमग्नजला नाम की दो नदियाँ निकली हैं और दोनों सीधी चलकर गंगा नदी में जा मिली हैं। गुफा की व गुफा के द्वार की ऊँचाई तो आठ आठ योजन की है, चौड़ाई बारह योजन की है और लम्बाई पचास योजन (विजयार्ध समान) है।

उक्त गुफा से निकल कर गंगा नदी दक्षिण भरत के अर्धभाग पर्यन्त सीधी दक्षिण की तरफ गई है और वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर बहकर मागध नामक द्वार मे होकर लवण समुद्र में मिली है।

सिन्धु नदी का निकास और गमनादि

गंगा का जिस प्रकार वर्णन किया है उसी के समान सिन्धु नदी का वर्णन समझना चाहिए। केवल इतना अन्तर है कि सिन्धु नदी पद्मद्रह के पश्चिम द्वार से निकल कर पश्चिम की ओर बहकर सिन्धुकूट के पहले मुडकर पर्वत के निकट आकर कुंड में गिरी है। वहाँ से निकल कर विजयार्ध पर्वत की तमिस्रा नामक गुफा मे प्रवेश कर,वहाँ से निकल जंबूद्वीप के कोट के प्रभास नामक द्वार से पश्चिम समुद्र में मिलती है।

शेष नदियों का वर्णन

रोहित नदी महापद्मह्रद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी महाहिमवान् पर्वत के तट पर्यन्त सोलह सौ पाँच योजन, उन्नीसवें भाग तक जाकर हैमवत क्षेत्र के कुंड में पडी है। वहाँ से निकलकर सीधी नाभि गिरि के आध योजन पहले से मुडकर पूर्व दिशा के सम्मुख होकर पूर्व समुद्र मे गिरी है। रोहितास्या नदी पद्मह्रद के उत्तर द्वार से निकलकर सीधी हिमवान् के तट तक दोसौ छहत्तर योजन और छह उन्नीसवें भाग (२७६–६/१६) तक आकर हैमवत क्षेत्र में कुंड में पडी है। और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरी के निकट आधे योजन की दूरी से मुडकर पश्चिम की ओर वहती हुई पश्चिम समुद्र में प्रवेश करती है। हरित नदी तिगिंछह्रद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी निषध पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इकीस योजन, एक उन्नीसवें भाग तक जाकर हरि क्षेत्र के कुण्ड में गिरी है। वहाँ से निकल पूर्व की भाँति नाभिगिरी के समीपतक जाकर वहाँ से मुडकर पूर्व दिशा की ओर वहकर पूर्व समुद्र मे जामिली है। हरिकान्ता नदी महापद्म ह्रद के उत्तर द्वार से निकल सीधी महाहिमवान् के तटतक सोलह सौ पांचयोजन और पाँच उन्नीसवें भाग (१६०५–५/१६) पर्यन्त जाकर हरिक्षेत्र के कुण्ड में गिरी है, वहाँ से निकल कर सीधी पूर्ववत् नाभिगिरि के निकट जाकर और वहाँ से पश्चिम दिशा की ओर वहती हुई पश्चिम समुद्र म प्रवेशकर गई है। सीता नदी केसरी ह्रद के दक्षिण द्वार से निकलकर सीधी नील पर्वत के तट पर्यन्त चोहत्तर सौ इकीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुंड में गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधी मेरु गिरि के निकट तक जाकर उससे आधे योजन की दूरी से मुड़कर पूर्वदिशा के सम्मुख होकर वहती हुई पूर्व समुद्र में जाकर मिली है। सीतोदा नदी तिगिंछ ह्रद के उत्तरद्वार से निकल कर सीधी निपधाचल के तट पर्यन्त चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग तक जाकर विदेह क्षेत्र के कुंड में गिरी है। और वहाँ से निकल कर सीधी पूर्ववत् मेरुगिरि के निकट तक जाकर और उससे आधे योजन दूर से मुडकर पश्चिम की ओर वहकर पश्चिम समुद्र मे मिली है। नारी नदी महापुंडरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से निकल कर सीधी रुक्मी पर्वत के तट तक सोलह सौ पचास योजन, पाँच उन्नीसवें भाग (१६०५–५/१६) पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुंड मे गिरी है और वहाँ से निकल कर सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पूर्व की ओर वहती हुई पूर्व समुद्र मे प्रवेश कर गई है। नरकान्ता नदी केसरीह्रद के उत्तर द्वार से निकल सीधी नील पर्वत के तट तक चवहत्तर सौ इक्कीस योजन और एक के उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर रम्यक क्षेत्र के कुण्ड में गिरी है। और वहाँ से निकल सीधी नाभिगिरि के निकट उरली तरफ से मुडकर पश्चिम दिशा की तरफ वहती हुई पश्चिम में जामिली है। स्वर्णकूला नदी पुण्डरीक ह्रद के दक्षिण द्वार से निकल सीधी शिखर पर्वत के तट तक दोसौ छिहत्तर योजन, छह उन्नीसवें भाग (२७६–६/१६) पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुंड मे गिरी है। और वहां से निकल सीधी नाभिगिरि के उरली ओर तक जाकर और वहाँ से पर्वत के सम्मुख मुडकर वहती हुई पूर्व समुद्र में प्रवेश कर गई है। रूप्यकूला नदी महापुण्डरीक ह्रद के उत्तर द्वार से निकलकर रुक्मी पर्वत के तट तक सौलहसौ पाँच योजन एवं उन्नीसवें भाग पर्यन्त जाकर हैरण्यवत क्षेत्र के कुंड मे गिरी है। तथा वहाँ स निकल सीधी नाभिगिरि के निकट जाकर उसके उरली तरफ से मुडकर

पश्चिम दिशा में बहती हुई पश्चिम समुद्र में मिली है। यहाँ पर्वत के ऊपर नदी के गमन करने का प्रमाण जम्बूद्वीप की अपेक्षा से कहा है। अन्यत्र धातकीखण्ड व पुष्करार्ध में उनकी अपेक्षा से यथासंभव प्रमाण जानना चाहिए।

गंगा तथा सिन्धु का जैसा वर्णन कर आये हैं, वैसा ही वर्णन रक्ता व रक्तोदा का भी समझना चाहिए। केवल इतना विशेष है कि यहाँ पुण्डरीक ह्रद और शिखरी पर्वत समझना। प्रणाली आदि का सब वर्णन समान जानना। शेष नदियों, प्रणाली, कुंडादि के व्यासादि का प्रमाण भरत ऐरावत सम्बन्धी नदियों से अनुक्रम से विदेह सम्बन्धी नदियों तक दूना दूना समझना।

नदियों का विस्तार

गंगा सिन्धु और रक्ता रक्तोदा इनकी चौडाई का प्रमाण ह्रद से निकलते समय सवाछह योजन है और समुद्र में प्रवेश करते समय दशगुना होगया है। अन्य सब विदेह पर्यंत नदियों का क्रम से दूना दूना प्रमाण होता चलागया है। जैसे गंगा नदी का समुद्र में प्रवेश करते समय विस्तार (चौडाई) साढे बासठ योजन है। समस्त नदियों की गहराई अपने २ चौडाई के प्रमाण से पचासवें भाग है। जैसे गंगा नदी की गहराई आधे कोश प्रमाण है इसी प्रकार अन्य नदियों का समझना चाहिए।

नदियों के निकलने के ह्रद-द्वार, समुद्र में प्रवेश करने के जम्बू द्वीपादि के कोट के द्वार, कुंड से निकलने के द्वार तथा अन्यत्र उन पर तोरण हैं, और उनपर जिनबिम्ब सहित दिक्कुमारियों के मन्दिर (प्रासाद) हैं।

उन तोरणों का विस्तार (चौडाई) अपनी२ नदियों के विस्तारप्रमाण है। तथा व्यास से डेढी ऊँचाई है। जैसे गंगानदी के निर्गम द्वार के तोरण की चौडाई का प्रमाण सवाछह योजन और ऊँचाई का प्रमाण नवयोजन तथा तीन के आठवें भाग प्रमाण है, और सर्वत्र तोरण का अवगाह (भूमि मे गहराई-नींव) आधे योजन प्रमाण है।

गंगा और सिन्धु दोनों नदियाँ चौदह-चौदह हजार नदियों के परिवारवाली हैं। इनके आगे की नदियाँ प्रतिक्षेत्र में अनुक्रम से विदेह क्षेत्र पर्यन्त दूनी दूनी होती चली गई हैं। विदेह क्षेत्र के उत्तर में प्रतिक्षेत्र में आधी-आधी हीन होती गई हैं।

भरतादि क्षेत्रों का विस्तार

जम्बूद्वीप के एकसौ नव्वे भाग प्रमाण अर्थात् पाँचसौ छब्बीस योजन और छह के उन्नीसवें भाग प्रमाण भरत क्षेत्र के विस्तार का प्रमाण है। क्रमसे इससे दुगुने दुगुने पर्वत क्षेत्रादि विदेह पर्यन्त हैं।

भावार्थ—भरत क्षेत्र से दूना हिमवान् पर्वत, हिमवान् से दूना हैमवत क्षेत्र, उससे दूना महाहिमवान् पर्वत, महाहिमवान् से दूना हरिक्षेत्र, हरिक्षेत्र से दूना निषध पर्वत, तथा निषध से दूना विदेह क्षेत्र है। विदेह क्षेत्र के विस्तार (चौड़ाई) का प्रमाण तेतीस हजार छहसौ चौरासी योजन और एक योजन की उन्नीस कला में से चार कला प्रमाण है। उसके बीच में सीता व सीतोदा नदी का प्रवाह है। इसलिए विदेह की चौड़ाई में से नदी की चौड़ाई को घटाने पर शेष का जो आधा प्रमाण रहता है वही बत्तीस विदेह क्षेत्र, सोलह वक्षार गिरी, बारह विभंगा नदी, देवारण्यादि वन इनकी लम्बाई प्रमाण है। विदेह का विष्कंभ (चौड़ाई) प्रमाण ३३६८४-४/१९ में से पाँचसौ योजन नदी का व्यास घटाने पर ३३१८४-४/१९ योजन रहे। इस का आधा करने पर सोलह हजार पांचसौ बानवें योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण लम्बाई का प्रमाण होता है।

विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु का स्वरूप

मेरु पर्वत गोलाकार है और वह विदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित है। उसकी ऊँचाई निन्न्यानवे हजार योजन प्रमाण है। मूलमें भूमिपर दशहजार योजन चौड़ा और ऊपर एक हजार योजन चौड़ा है। और उसकी ऊपर ऊपर कटनियाँ हैं, उन पर चार बन सुशोभित हैं।

भूमि पर भद्रशालवन है जो मेरु के मूल में भूमि पर चारों तरफ है। उससे पांचसौ योजन ऊपर जाकर एक कटनी मेरु के चहुँ ओर है, उस पर नन्दनवन है। वहाँ से साढे बासठ हजार योजन ऊपर जाकर कटनी है और उसपर सोमनसवन है। वहाँ से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर एक कटनी है और उस पर पाण्डुक वन है। इनमें मन्दार, आम्र, चम्पा, चन्दन, घनसार, कदली, नारियल, सुपारी इत्यादि के सुन्दर वृक्ष सुशोभित हैं। इन से वे अत्यन्त रमणीय होरहे हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु की ऊँचाई आदि का वर्णन किया।

अन्य चार मेरु पर्वत

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध सम्बन्धी विजय, अचल, मन्दर और विद्युन्माली इन चारों मेरु पर्वतों के पृथ्वी पर भद्रशाल वन हैं। वहाँ से पांचसौ योजन ऊपर जाकर नन्दनवन है। वहाँ से पचपन हजार पांचसौ योजन ऊपर सौमनसवन है। तथा वहाँ से अठाईस हजार योजन ऊपर जाकर पाण्डुकवन है। इस प्रकार ये चारों मेरु चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं। उक्त पाँचों मेरु की नींव एक हजार योजन प्रमाण है।

प्रत्येक मेरु के प्रत्येक वन की प्रत्येक दिशा में एक एक चैत्यालय है। इस तरह एक एक मेरु के प्रति सोलह चैत्यालय सुशोभित हैं। इन चैत्यालयों का वर्णन नंदीश्वरद्वीप का वर्णन करते समय करेंगे।

सुदर्शन मेरु के चारों गजदन्तों के मध्य चारों दिशाओं में भद्रशाल वन हैं, जो पूर्व पश्चिम दिशा में तो बाईस हजार योजन चौड़ा है और दक्षिण उत्तर में ढाईसौ योजन चौडा है। भद्रशालादि वन के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों पार्श्वें में वेदी है। जैसे बाग के चारों ओर कंगुरे रहित दीवार होती है वैसी ही वेदी है। वह वेदी एक योजन ऊँची, आधे योजन चौडी और पाव योजन नींव में है और सुवर्णमय है। तथा बड़े २ घंटे और छोटी २ घंटिकाओं से अलंकृत सुन्दर २ तोरणों से संयुक्त बहुत द्वार वाली है।

सुमेरु पर्वत की चौडाई का क्रम

मेरु की भूमि तल से लेकर नंदनवन तक क्रमशः चौडाई घटती गई है। यहाँ पर सर्वत्र चारों तरफ पाँचसौ योजन चौडी कटनी छूटी है, उस में नन्दनवन है। यहाँ दोनों तरफ की कटनी का एक हजार योजन प्रमाण मेरु की चौडाई घटी है इसलिए ग्यारह हजार योजन की ऊँचाई तक मेरु समान चौडा चलागया है। वहां तक चौडाई में कमी नहीं हुई है। उसके बाद पुनः क्रमशः घटता हुआ चलागया है। इसका गणित त्रैलोक्यसार ग्रन्थ से जानना।

मेरु नीचे से लेकर इकसठ हजार योजन की ऊँचाई पर्यन्त तो अनेक वर्णवाले नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित है और उसके ऊपर केवल सुवर्ण सदृशवर्ण से युक्त है।

नन्दनवन, सौमनसवन और पाण्डुकवन इन तीनों मे चार चार भवन हैं, उनके अधिपति सौधर्म इन्द्र के सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक चार लोकपाल हैं। ये पूर्वादि दिशा मे रहते हैं और प्रत्येक लोकपाल के साढे तीन करोड साढे तीन करोड गिरिकन्या (व्यन्तरी) देवांगनाएँ पाई जाती हैं। इनमे से सोम और यम की आयु ढाई पल्य प्रमाण है तथा वरुण और कुबेर की आयु कुछ कम तीनपल्य प्रमाण है। सोमका लालवर्ण, यम का श्यामवर्ण, वरुण का काचनवर्ण और कुबेर का श्वेतवर्ण है। और ये अनेक प्रकार के आभूषणों से भूषित रहते हैं। इन लोकपालों के स्वर्ग में निवास करने के विमान हैं और यहाँ मेरु के ऊपर भी उनके भवन पाये जाते हैं।

नन्दन वन के उक्त चारों भवनों के दोनों पार्श्वों मे दो दो कूट बने हैं। सब कूट आठ है। प्रत्येक दिशा व विदिशा में चार चार सुन्दर वापिकाएं हैं जो मणिमय तोरण और रत्नमय सोपान (सीढियां) से सुशोभित हैं। तथा हंस मयूर आदि यंत्रों से युक्त हैं। ये पचास योजन लम्बी, पच्चीस योजन चौडी और दश योजन गहरी हैं। इनके मध्य मे सौधर्म और ऐशान के प्रासाद बने हुए हैं। स्वर्ग में सुधर्मा सभा में जैसे इन्द्र अपने परिवार सहित बैठता है, वैसे ही यहाँ पर जब आता है तब यहाँ भी सभा लगाकर बैठता है।

मेरु पर स्थित शिलाओं का वर्णन

मेरु पर पाण्डुक वन में ईशानदिशा से लेकर चारों विदिशाओं में क्रम से १ सुवर्ण समान वर्णवाली पाण्डुकशिला, २ रूप्य (चांदी) समान वर्णवाली पाण्डुकम्बला शिला, ३ तपेहुए सुवर्ण समान वर्णवाली रक्ता शिला और ४ लोहित वर्णवाली रक्तकम्बला शिला-ये चार शिलाएँ हैं।

ये पाण्डुकादि शिलाएँ क्रमसे भरतक्षेत्र, पश्चिमविदेह, ऐरावत और पूर्वविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से सम्बन्ध रखती हैं। भरत क्षेत्र के तीर्थंकरों का पाण्डुकशिला पर, पश्चिमविदेह के तीर्थंकरों का पाण्डुकम्बला पर, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का रक्ताशिला पर और पूर्वविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का रक्तकम्बला पर जन्माभिषेक किया जाता है। ये शिलाएँ क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशा तक लम्बी हैं। ये सब अर्धचन्द्राकार हैं। सौ योजन लम्बी हैं। बीच में पचास योजन चौड़ी व आठ योजन मोटी हैं। इन शिलाओं के ऊपर तीन २ गोल सिंहासन हैं—बीच में श्रीमद्देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव का सिंहासन है, उसकी दक्षिण दिशा में सौधर्म इन्द्र का भद्रासन है और उत्तर दिशा में ऐशान इन्द्र का भद्रासन है। उन आसनों की ऊँचाई पाँचसौ धनुष, नीचे चौड़ाई पांचसौ धनुष, ऊपर चौड़ाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। और वे आसन पूर्वदिशा के सम्मुख हैं।

पाण्डुकवन के मध्य मेरु की चूलिका है जो वैडूर्यमणिमयी है। उसकी ऊँचाई चालीस योजन है। नीचे चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चौड़ाई चार योजन प्रमाण है।

पर्वत, वापिका, कूट पाण्डुकादि-शिला ये सब नाना प्रकार की मणियों से निर्मित वन, वेदी और तोरण से संयुक्त हैं अर्थात् पर्वतादि के चहुँ ओर वन हैं उनके वेदिका है और वेदी के तोरण से अलंकृत द्वार पाये जाते हैं।

जम्बूवृक्ष का वर्णन

मेरु के उत्तर (नील पर्वत के पास दक्षिण की ओर जाती हुई सीता नदी के पूर्व तट व मेरु पर्वत से ईशान विदिशा में) में उत्तर कुरुनाम की भोग भूमि है उसमें जम्बू वृक्ष की स्थली है। जैसे यहाँ वृक्ष के थांवला होता है वैसे ही जम्बूवृक्ष के चारों ओर गोलाकार स्थली समझना। यह मूल में पांचसौ योजन चौड़ी है अन्त में दो कोस प्रमाण मोटी है। मध्य में आठ योजन ऊँची है, गोलाकार और सुवर्णमयी है। उस स्थली के बीच में एक पीठ है। उसकी ऊँचाई आठ योजन है। चौड़ाई बारह योजन और ऊपर चार योजन है। उसस्थली के ऊपर के भाग में बाहर की ओर बेढकर सुवर्ण के वलय समान आधे योजन ऊँची, एक योजन के सोलहवें भाग प्रमाण चौड़ी नानारत्नों से व्याप्त

बारह अम्बुजवेदिका हैं। अर्थात् स्थली के ऊपर पहली वेदी को बेढेहुए दूसरी वेदी है और दूसरी को बेढे हुए तीसरी है और तीसरी को बेढे हुए चौथी। इस प्रकार एक दूसरी को वेष्टित किये हुए बारह वेदियाँ हैं। बारह वेदियाँ चार चार द्वारों से संयुक्त हैं। बाह्य और आभ्यन्तर वेदी के बीच में अन्तराल है। अतः बारह वेदियों के बीच मे ग्यारह अन्तराल समझने। उनमे से चौथे अन्तराल में एक मूल जम्बू वृक्ष है और चार जम्बू वृक्ष अन्य हैं। तथा अन्य अन्तरालों में यथा संभव जम्बू वृक्ष हैं। सब मिलकर एक लाख चालीस हजार एकसौ बीस जम्बू वृक्ष हैं।

भावार्थ—उत्तरकुरु क्षेत्र के मध्य जम्बूवृक्ष की स्थली (थांवला) है जो तलभाग में पांचसौ योजन लम्बी चौड़ी है, जिसकी परिधि गोलाई चौड़ाई से कुछ अधिक तिगुनी है, और क्रमशःबाहरकी तरफ से घटती २ मध्य में बारह योजन मोटी और अन्त में दो कोश मोटी है और वह एक सुवर्ण की पद्मवर वेदी से वेष्टित है, उसके मध्य भाग में नानारत्नों से निर्मापित एक पीठ (पीढ़ा चौकी) है, जो आठ योजन लम्बा और चार योजन चौड़ा और चार योजन ही लम्बा है। उसको चारों ओर से बारह पद्मवेदिएँ बेढे हुए है। वह वेदिका एक दूसरी को वेढेहुए है। मुख पीठ के ऊपर एक दूसरा मणिमय उपपीठ है, जो एकयोजन लम्बा चौड़ा और दोकोश ऊँचा है। उस उपपीठ के मध्यभाग मे सुदर्शन नाम का जम्बूवृक्ष है।

जिसकी जड आधे योजन भूमि मे है, पीठ की भूमि से ऊपर उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा है और वह मरकतमणि निर्मित है. उस स्कन्ध के ऊपर वज्रमय आठ २ योजन लम्बी और आध २ योजन चौडी चार शाखाएँ (डालियाँ) हैं। अनेक प्रकार के रत्नों से निर्मित उसके उपशाखाएँ (छोटी २ डालियाँ) हैं। प्रवाल (मूंगे) के समान वर्ण वाले उसके फूल हैं। तथा मृदंग के समान उसके फल पाये जाते हैं। यह जम्बू वृक्ष पृथ्वीकाय है, वनस्पतिकाय नहीं है। जामुन के वृक्ष का सा आकार है। इसलिए इसे जम्बू वृक्ष कहते हैं। यह जम्बू वृक्ष दश योजन ऊँचा है, मध्य में छह योजन और ऊपर में चार योजन चौडा है। यह मण्डलाकार है।

इस सुदर्शन नामक मूल वृक्ष की उत्तर दिशा वाली (नील पर्वत की ओर) शाखा पर श्री जिनचैत्यालय है। और बाकी तीन शाखाओं पर आदर व अनादर यक्षों (व्यन्तर देवों) के भवन हैं। इस मूल वृक्ष के अतिरिक्त जितने परिवार वृक्ष हैं उनपर आदर व अनादर के परिवार देवों के आवास स्थान हैं।

मेरु पर्वत के दक्षिण में देवकुरु नाम की भोग भूमि है, उसमें मनोज्ञ रजतमय शाल्मली वृक्षों की स्थली है। उसमें शाल्मली वृक्ष सपरिवार अवस्थित हैं। इसका समस्त वर्णन जम्बूवृक्ष के समान समझना चाहिए। इतना विशेष है कि इसके दक्षिण दिशा की शाखा पर जिनचैत्यालय है। शेष तीन शाखाओं पर गरुड कुमार के स्वामी वेणु और वेणुधारी देव के मन्दिर (भवन) हैं। और शाल्मली के परिवार वृक्षों पर इन्हीं देवों के परिवार-देवों के आवास स्थान हैं।

विदेह क्षेत्र

मेरु पर्वत के पूर्व दिशा और पश्चिम दिशा में विदेह क्षेत्र है। पूर्व दिशा के विदेह क्षेत्र को पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा के विदेह क्षेत्र को पश्चिम विदेह कहते हैं। पूर्व विदेह क्षेत्र के मध्य भाग मे सीता नदी और पश्चिम विदेह क्षेत्र के मध्य भाग में सीतोदा नदी बहती है। इस प्रकार इन दोनों नदियों के दक्षिण व उत्तर तट से चार विभाग होगये हैं। एक एक विभाग में आठ आठ विदेह देश हैं। क्योंकि पूर्व और पश्चिम मे भद्रशाल की वेदी है। उसके आगे वक्षार पर्वत है, उसके आगे विभङ्गा नदी—इस प्रकार चार वक्षार पर्वत और तीन विभङ्गा नदी हैं और अन्त में देवारण्य व भूतारण्य की वेदिका है। इस तरह भद्रशाल की वेदी, चार वक्षार, तीन विभङ्गा नदी, एक भूतारण्य या देवारण्य की वेदी—ऐसे नव हुए। इन नवों के बीच आठ देश एक विभाग के हुए। इसी प्रकार अन्य तीन विभागों मे भी आठ आठ देश हैं। चारों विभागों के मिलकर विदेह सम्बन्धी बत्तीस देश होते हैं।

विदेह क्षेत्र मे सात प्रकार के काले वर्ण के मेघ हैं और बारह प्रकार के श्वेत वर्ण के द्रोण नामक मेघ हैं। ऐसे ये उन्नीस प्रकार के मेघ वर्षाकाल मे सात सात दिन तक वर्षा करते हैं। अर्थात् वहा पर वर्षाकाल में एक सौ तेतीस दिन तक वृष्टि होती है।

विदेह मे दुर्भिक्ष नहीं होता। १ अतिवृष्टि, २ अनावृष्टि, ३ मूषक, ४ टिड्डी, ५ सूवा, ६ स्वराष्ट्र और ७ परराष्ट्र इस प्रकार की ईति नहीं होती है। महामारी आदि प्राणि-समूह के नाशक रोग सर्वदा नहीं होते। जिनेन्द्र देव के सिवा अन्य देव कुदेव और जिन लिङ्ग के सिवा अन्य लिंगी (कुलिंगी) और जिनोक्त मत के अतिरिक्त अन्य मत (कुमत) वहाँ नहीं होता है। तथा वह देश सर्वदा केवली, तीर्थंकरादि, शलाका पुरुष और ऋद्धि धारक मुनियों के विहार से पवित्र रहते हैं।

विदेह के बत्तीस देशों मे से प्रत्येक देश मे तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, अर्धचक्री, नारायण और प्रतिनारायण एक एक हों तब उत्कृष्ट रूपसे पांच मेरु सम्बन्धी विदेह देशों में एकसौ साठ होते हैं। और जघन्य रूप से सीता व सीतोदा नदी के दक्षिण और उत्तर तट में एक एक होते हैं। इस तरह एक मेरु की अपेक्षा चार और पॉच मेरु पर्वतों की अपेक्षा बीस होते हैं। अर्थात् बीस तीर्थंकर, बीसचक्री आदि तो सदा बने रहते हैं। तथा उत्कृष्ट रूप से पॉच भरत और पॉच ऐरावत क्षेत्र के दश और एकसौ साठ विदेह देश के मिलाकर कुल एकसौ सत्तर तीर्थंकरादि होते हैं।

विदेह क्षेत्र सम्बन्धी बत्तीस देशों के मध्य पूर्व-पश्चिम तक लम्बा विजयार्द्ध पर्वत है। चक्रवर्ती द्वारा विजय योग्य देश को अर्ध (आधे) करने वाले पर्वत को यहाँ विजयार्द्ध नाम से कहा है। भरत क्षेत्र में जैसे गंगा, सिन्धु और ऐरावत क्षेत्र में जैसे रक्ता, रक्तोदा नदियाँ

विजयार्ध की गुफा मे से होकर निकली हैं वैसे ही प्रत्येक देश के दक्षिण विभाग मे गंगा, सिन्धु और उत्तर विभाग में रक्ता, रक्तोदा नदी हैं। इस प्रकार प्रत्येक विदेह देश के छह खंड होगये हैं।

विजयार्ध शैल रजत (चाँदी) मय है। उस की ऊँचाई पच्चीस योजन प्रमाण है। भूमितल से लेकर दश योजन की ऊँचाई तक उसकी चौड़ाई बराबर पचास योजन की है। वहाँ पर दश दश योजन की उत्तर व दक्षिण में दो कटनियाँ छूटी हैं। अतः मध्य में तीस योजन की चौड़ाई रह गई है और उतनी चौड़ाई समान रूप से दश योजन की ऊँचाई तक चली गई है। तथा वहाँ पर दश-दश योजन की उत्तर दक्षिण में दो कटनियाँ और छूटी हैं, इसलिए मध्य भाग मे उसकी चौड़ाई दश योजन प्रमाण रह गई है और उतनी चौड़ाई पाँच योजन तक बराबर चली गई है। जो प्रथम कटनी उत्तर दक्षिण में छूटी है, उस पर दो विद्याधर श्रेणियाँ हैं:—उत्तर श्रेणी व दक्षिण श्रेणी। इन दोनों श्रेणियों मे विद्याधरों के पचपन पचपन नगर हैं। जम्बूद्वीप के दोनो छोर पर जो भरत तथा ऐरावत क्षेत्र है, उनके विजयार्ध सम्बन्धी दक्षिण श्रेणी तथा उत्तर श्रेणी मे क्रमसे पचास व साठ नगर है।

विजयार्ध की दूसरी कटनी (श्रेणी) पर सौधर्म सम्बन्धी आभियोग्य जाति के देवों के मणि-निर्मित विचित्र नगर हैं और विजयार्ध के शिखर पर सिद्धायतनादि नवकूट हैं। उनमे जो पूर्ण भद्रनामक कूट है, उसपर विजयार्धकुमारपति देव का निवास है।

विजयार्ध पर्वत पर उत्तर व दक्षिण दोनो श्रेणियो मे एक सौ दश रत्नमय नगर हैं। उनमें (१) साधित (२) कुल और (३) जाति इन तीन विद्याओं मे युक्त विद्याधर निवास करते हैं। जिसकी स्वयं साधना करते हैं, उस विद्या को साधित विद्या कहते हैं। जो पितृ कुल क्रम से चली आई है उसे कुल विद्या कहते हैं और जो मातृपक्ष (जाति) में चली आई हैं उसे जाति विद्या कहते हैं। विद्याधर इज्या, वार्त्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप इन षट्कर्म का आचरण करने वाले होते है। पूज्यपुरुषों की पूजा करने को इज्या कहते है। असिमषि कृषि आदि छह जीवन के उपायों को वार्त्ता कहते हैं। दान देने को दत्ति, शास्त्रों के पठन पाठनादि को स्वाध्याय, अविरति के त्याग करने को संयम और अनशनादि को तपश्चरण कहते हैं। वे विद्या की साधना विशेष करते हैं इसलिए उन्हें विद्याधर कहते है। उनकी अन्य सब क्रियाएँ भरतादि के मनुष्यवत हैं।

वृषभाचल पर्वतों का वर्णन

विजयार्ध पर्वत के द्वारा किये गये छह खंडों मे कुलाचल, विजयार्ध और दोनों नदियों के मध्य वर्त्ती म्लेच्छ खण्ड के बहुमध्य भाग में एक एक देश मे एक एक वृषभाचल है। अर्थात विजयार्ध और दो दो नदियों के द्वारा प्रत्येक विदेह देश के छह छह खण्ड हुए। हैं। उन में पांच म्लेच्छ खण्ड हैं और एक आर्य खण्ड है। पाँच म्लेच्छ खण्डों में से उत्तर के दो नदियों के मध्य वर्त्ती खण्ड में वृषभाचल है

वह प्रत्येक देश में एक एक है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच विदेहों में एकसौसाठ और पाँच भरत और पाँच ऐरावत सम्बन्धी दश ऐसे सब मिलाकर एकसौ सत्तर वृषभाचल हैं। वे सब सुवर्ण वर्ण के हैं और मणिमय हैं। सब सौ योजन ऊँचे, पृथ्वी पर सौ योजन चौड़े और ऊपर पचास योजन चौड़े हैं। उन पर भूतकाल सम्बन्धी चक्रवर्तियों के नाम हैं। जितने चक्रवर्ती उस उस क्षेत्र के होते हैं वे सब अपना नाम उस पर अङ्कित करदेते हैं।

राजधानियों का वर्णन

उपसमुद्र (खाडी) के निकट आर्यखण्ड (दक्षिण भाग में) है। उसमें क्षेमा, क्षेमपुरी आदि नाम की एक एक राजधानी नगरी है। उसमें चक्रवर्ती निवास करता है। वह बारह योजन लम्बी और नव योजन चौड़ी है। अढाई द्वीप सम्बन्धी सब मिलकर एकसौ सत्तर राजधानियाँ हैं। उनके द्वारों पर रत्नमय कपाट हैं। प्रत्येक नगरी के एक एक हजार बड़े द्वार और पाँचसौ २ छोटे द्वार हैं। स्वर्णमय कोट हैं। नगर के अन्दर बारह हजार वीथियाँ (गलियाँ) हैं और एक एक हजार चौरहे बाजार हैं। नगर के बाहर तीनसौ साठ बाग-बगीचे हैं। नगर के मध्य श्री मज्जिनेन्द्रदेव के मन्दिर हैं और चक्रवर्त्ती के महल व अन्य समृद्ध जनों के प्रासाद हैं। वे सब रत्नमय सुशोभित हो रहे हैं।

नाभिगिरि का वर्णन

स्थिर भोगभूमि हेमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत हैं। उनके मध्य में गोलाकार नाभिगिरि हैं। वे एक-एक हजार योजन ऊँचे और उतने ही नीचे से लेकर ऊपर तक चौड़े हैं। खड़े किये गये ढोल के समान उनका आकार है। इस प्रकार पाँच मेरु सम्बन्धी कुल बीस नाभिगिरि हैं। वे श्वेतवर्ण के हैं और उनके शिखर पर सौधर्म और ऐशान इन्द्र के अनुचर देव निवास करते हैं।

कूटों का वर्णन

हिमवान् कुलाचल पर ग्यारह, महाहिमवान् के ऊपर आठ, निषध पर नव, नील पर नव, रुक्मी पर आठ, शिखरी पर ग्यारह तथा विजयार्ध पर नव नव कूट हैं। वे सब नीचे में अधिक चौड़े और ऊपर क्रमशः थोड़े थोड़े चौड़े हैं। इनमें से जो पूर्व दिशा में कूट है उन पर जिन मन्दिर हैं और शेष कूटों पर देव और देवियाँ निवास करती हैं। ये गोल और रत्नमय हैं और अपने २ पर्वत की ऊँचाई के चौथे भाग प्रमाण ऊँचे हैं। इनकी भूमिपर चौड़ाई ऊँचाई के समान है और ऊपर में चौड़ाई नीचे से आधी रहगई है। सम्पूर्ण पर्वतों के मूल में, नीचे तथा ऊपर शिखरपर और ह्रदों के चारों ओर वन-खंड हैं। उनकी लम्बाई पर्वतों के समान है और चौड़ाई आधे योजन प्रमाण है। उनके चारों तरफ बेदी (कंगुरेरहित कोट) की चौड़ाई पांचसौ धनुष और ऊँचाई दो कोश है।

कालचक्र का परिवर्तन

विदेह क्षेत्र में सर्वदा चतुर्थकाल की प्रवृत्ति रहती है। हैमवत, हरि, रम्यक, हैरण्यवत, उत्तरकुरु और देवकुरु-ये भोग भूमियाँ हैं। केवल भरत और ऐरावत मे कालचक्र का परिवर्त्तन होता है। अतः उसके अनुक्रम का प्रतिपादन करते हैः—

उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल और उनके छह २ भेद

अढाई द्वीप सम्बन्धी पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ये दो काल-चक्र परिवर्त्तन करते हैं। जिसकाल मे जीवों की शरीर की ऊँचाई, आयु, शरीरबल आदि की क्रम से वृद्धि होती है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें इनकी क्रम से हानि होती है उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। इन दोनो के छह २ भेद हैं। १ सुषमासुषमा, २ सुषमा, ३ सुषमादुःषमा, ४ दुःषमासुषमा, ५ दुःषमा और ६ दुःषमा दुःषमा (अति दुःषमा) ये अवसर्पिणी काल के भेद हैं। इसके विपरीत क्रम को लिये हुए उत्सर्पिणी काल है। उसमे १ दुःषमादुःषमा, २ दुःषमा, ३ दुःषमासुषमा, ४ सुषमादुःषमा, ५ सुषमा और ६ सुषमासुषमा ऐसा क्रम होता है।

बीसकोडाकोडी (बीसकोटि-कोटि) सागर का एक कल्पकाल होता है। उसमे से दशकोटि-कोटि सागर का अवसर्पिणी काल और दशकोटि-कोटि सागर का एक उत्सर्पिणी काल होता है। इनके जो छह २ भेद कहे गये हैं उनमे सुषमासुषमा काल चार कोटि कोटि सागर का, सुषमा तीन कोटि-कोटि सागर का सुषमा दुःषमा दो कोटि-कोटि सागर का दुःषमा सुषमा बियालीस हजार वर्ष कम एक कोटि-कोटि सागर का तथा दुःषमा इक्कीस हजार वर्ष का और दुःषमादुःषमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है।

काल की अपेक्षा जीवों की आयु

उन में से सुषमा सुषम नामक प्रथम काल सम्बन्धी जीवों की आयु प्रारंभ में तीन पल्य की होती है और अन्त में दो पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारम्भ मे छह हजार धनुष की और अन्त में चार हजार धनुष की होती है। प्रारंभ में अष्टभक्ताहार (तीन दिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले तथा अन्त मे षष्ठ भक्ताहार (दोदिन बीतने पर एक बार भोजन) करने वाले होते हैं। और उदय होते हुए सूर्य व सोने के समान वर्णवाले होते हैं।

सुषम नामक द्वितीय काल सम्बन्धी जीवो की आयु आरंभ में दो पल्य और अन्त में एक पल्य की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारंभ में चार हजार धनुष और अन्त में दो हजार धनुष की होती है। तथा प्रारंभ में षष्ठ भक्ताहार (दो दिन में बीतने पर एक बार

भोजन) करने वाले और अन्त में चतुर्थ भक्ताहार एक दिन-बीतने पर एक बार (भोजन) करने वाले होते हैं। चन्द्र व शंख के समान उनका वर्ण होता है।

सुषम दुःषम नामक तृतीय काल में जीवों की आयु आदि में एक पल्य की और अन्त में एक पूर्व कोटि की होती है। शरीर की ऊँचाई प्रारंभ में दो हजार धनुष की और अन्त में पाँचसौ धनुष की होती है। प्रारंभ में एक दिन बीतने पर (दूसरे दिन) आहार करते हैं और अन्त में नित्य आहार करने वाले होते हैं। ये जीव हरित नील कमल के समान वर्ण वाले होते हैं।

दुःषम सुषम नाम चतुर्थ काल के आदि में पूर्व कोटि की आयु और अन्त में एकसौ बीस वर्ष की होती है। प्रारंभ में नित्य आहार करने वाले और अंत मे दो बार भोजन आदि करने वाले होते हैं। शरीर की ऊँचाई प्रारंभ में पाँचसौ धनुष और अन्त में सात हाथ प्रमाण होती है तथा पाँचों वर्ण के शरीर वाले होते हैं।

दुःषम नामक पंचम काल में जीवों की आयु प्रारंभ में एकसौ बीस वर्ष और अन्त में बीस वर्ष की होती है। प्रारंभ में शरीर की ऊँचाई सात हाथ और अन्त में दो हाथ प्रमाण होती है। कान्ति हीन रूखे पाँचोंवर्ण के मिश्रित वर्ण वाले होते हैं।

दुःषम दुःषम नामक छठे काल के आदि में बीस वर्ष की आयु और अन्त में पन्द्रह वर्ष की आयु होती है। प्रारंभ में दो हाथ प्रमाण शरीर की ऊँचाई होती है और अन्त में एक हाथ रह जाती है। वे जीव धुएं के समान श्याम वर्ण युक्त होते हैं। और वे बारंबार आहार करने वाले होते हैं।

प्रथम काल के जीव बदरी फल (छोटे बेर) बराबर, दूसरे काल के जीव अक्षफल बराबर, तीसरे काल के जीव आँवले बराबर कल्प वृक्षों से प्राप्त दिव्य आहार करते हैं। वे मन्द कषायी होते हैं और मलमूत्रादि नीहार से रहित होते हैं। अर्थात् उनके मलमूत्रादि नहीं होते हैं।

कल्प वृक्षों के भेद

भोगभूमि में दश प्रकार के कल्प वृक्ष होते हैं। १ तूर्याङ्ग कल्पवृक्ष से सब प्रकार के वादित्र (बाजे) प्राप्त होते हैं। २ पात्रांग से सब प्रकार के पात्र (भाजन-बर्त्तन) मिलते हैं। ३ भूषणांग से अनेक प्रकार के भूषण उपलब्ध होते हैं। ४ पानांग से पीने की सब वस्तुएँ, ५ आहारांग से सब प्रकार के आहार, ६ पुष्पांग से सब प्रकार के पुष्प, ७ ज्योतिरंग से प्रकाश, ८ गृहांग से सब प्रकार के मकान-महल, ९ वस्त्रांग से वस्त्र और १० दीपांग से दीपक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कल्प वृक्षों के दश भेद हैं।

भोगभूमि का स्वरूप

दर्पण के समान मणिमय भोगभूमि है। वह चार अंगुल प्रमाण ऊँचे उत्तम रस और गंध युक्त कोमल तृणों से सुशोभित है और दुग्ध या इक्षुरस या जल अथवा मधु समान रस या घृत से परिपूर्ण बावडी और द्रह (सरोवर) से व्याप्त है।

वहाँ पर माता के गर्भ से एक साथ स्त्री पुरुष का युगल (जोडा) उत्पन्न होता है। वे युगल बालक जन्म दिन से लेकर सातदिन तक अपना अंगूठा चूसते हैं। फिर सात दिन में भूमि पर रेंगते हैं—पेट के बल चलते हैं। फिर सात दिन में लडखडाते चलने लगते हैं। तदन्तर सात दिन में स्थिरगति से चलने लगते हैं। उसके बाद सातदिन में कला गुण का ग्रहण करते हैं। पुनः सातदिन में यौवन अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। पश्चात सातदिन में परस्पर का दर्शन व ग्रहण करते हैं। इस प्रकार उनचास दिनों में परिपूर्णता प्राप्त करलेते हैं।

ये युगल दम्पति होते है। इनके वज्रवृषभनाराच संहनन होता है, और समचतुरस्त्रसंस्थान होता है। वे मन्द कषाय वाले होते हैं अतः आर्य नाम के धारक होते हैं। इनको पंचेन्द्रियो के विषयों से अरुचि नहीं होती है। इनकी अनपवर्त्य आयु होती है। अर्थात् इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती है। आयु के पूर्ण होने पर पुरुष तो छींक से और स्त्री जंभाई से मृत्यु को प्राप्त होती हैं। इनका मृतक शरीर शरद् काल के मेघ समान विलीन होजाता है, इनके शरीर का अंश मात्र भी पडा नहीं रहता। ये मरकर देव पर्याय प्राप्त करते हैं। इनमे जो मिथ्या दृष्टि होते है वे तो भवनवासी, व्यन्तर या ज्योतिष देव होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि होते हैं, वे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जन्म लेते हैं, अन्यत्र जन्म नही लेते हैं। इस प्रकार प्रथम काल की आदि में उत्कृष्ट भोग भूमि होती है। क्रम से घटते घटते द्वितीय काल के प्रारंभ में मध्यम भोग भूमि होती है। और उससे भी क्रमशः घटते घटते तृतीय काल के प्रारंभ में जघन्य भोग भूमि होती है। इस प्रकार घटने का क्रम चलते हुए तृतीय काल के अन्त में कुलकर उत्पन्न होत है और फिर कर्म-भूमि का समय आता है।

कर्म-भूमि के प्रवेश का अनुक्रम और कुलकरों की उत्पत्ति

जब तृतीय काल पल्य के आठवें भाग प्रमाण शेष रहजाता है, तब कुलकर उत्पन्न होते हैं। वे चौदह होते हैं—१ प्रतिश्रुति, २ सम्मति, ३ क्षेमंकर, ४ क्षेमंधर, ५ सीमंकर, ६ सीमंधर, ७ विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी १० अभिचन्द्र, ११ चन्द्राभ, १२ मरुदेव, १३ प्रसेनजित और १४ नाभि। इन्हीं चौदहवे नाभि कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री आदिदेव हुए। जो पहले पात्र दान के पुण्य से मनुष्य आयु का बन्ध करते हैं और पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, वे ही जीव आकर कुलकर होते हैं। वे क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रकट रूप मे क्षत्रियादि कुल की प्रवृत्ति तब तक नहीं होती तथापि भावी का भूत में उपचार करके इन्हें क्षत्रिय कुल मे उत्पन्नका हुए कहा

जाता है। अथवा भाव में क्षत्रियत्व उनमें विद्यमान था अतः क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहा है। उन कुलकरों में से कई तो जातिस्मरण ज्ञानवाले होते हैं और कई को अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रथम कुलकर की आयु पल्य के दशवें भाग प्रमाण होती है और आगे आगे के कुलकरों की आयु दश दश गुणी हीन है। अर्थात् प्रथम कुलकर की पल्य के दशवें भाग, दूसरे की पल्य के सौवें भाग, तीसरे की पल्य के हजारवें भाग इस क्रमसे घटते २ अन्तिम कुलकर नाभि महाराज की आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण रह गई है।

एक कुलकर के मरने के पश्चात् जितना काल बीतने पर दूसरा कुलकर उत्पन्न होता है, उसको कुलकरों का अन्तराल कहते हैं। चौदह कुलकरों के तेरह अन्तराल होते हैं। उनमें से प्रथम अन्तराल पल्य के अस्सीवें भाग प्रमाण है। प्रथम कुलकर की मृत्यु होने के बाद पल्य के अस्सीवें भाग बीतने पर दूसरा कुलकर हुआ है। इसी प्रकार बारह अन्तराल दश दश गुणे भागहार से भाजित पल्य प्रमाण जानने चाहिए।

आदि के पांच कुलकर अपराधियों को 'हा' ऐसा वचन बोल कर दण्ड देते हैं। 'हा' का अर्थ है–हाय यह बुरा किया। उसके बाद के पाँच कुलकर 'हामा' बोलकर दण्ड देते हैं, अर्थात्–'हाय बुरा किया, मत करो। वे अपराधियों को ऐसा कहते हैं। इनके पश्चात् वृषभदेव सहित पाँच कुलकरों ने 'हामाधिक्' का दण्ड विधान नियत किया। इस का अर्थ है–हाय बुरा किया, मत करो, धिक्कार है तुम्हें।

चक्षुष्मान और यशस्वी के शरीर का वर्ण श्याम था, तथा प्रसेनजित और चन्द्राभ कुलकर के शरीर का वर्ण धवल और शेष कुलकरों के वर्ण सुवर्ण समान थे।

कुलकरों का कार्य

ज्योतिरंग जाति के कल्पवृक्षों के मन्द होजाने से सूर्य और चन्द्रमा दिखाई देने लगे। उनको देखकर प्रजा भयभीत हुई। प्रथम कुलकर ने प्रजा को समझा कर उसका भय दूर किया। दूसरे कुलकर ने ताराओं के दर्शन से उत्पन्नहुए प्रजा के भय को दूर किया। सिंह आदि जन्तुओं में क्रूरता आने लगी। तब तीसरे कुलकर ने उनसे बचने का उपाय बतलाकर जनता को निर्भय किया। सिंहादि प्राणी अति क्रूर स्वभाव वाले होगये तब चौथे कुलकर ने उनको दण्ड देने का उपाय दिखलाकर लोगों को भयरहित किया। कल्पवृक्ष अल्पफल देने लगे तब प्रजा में परस्पर कलह होने लगा। पाँच कुलकर ने सीमा बांधवें कर उनके झगड़े दूर किये। जब कल्पवृक्ष अत्यन्त मन्द होने लगे तब प्रजा में उस मर्यादा में भी झगड़ा होने लगा तो छठे कुलकर ने विशेष चिह्नादि द्वारा सीमा को हद करके झगड़ा मिटाया। सातवें कुलकर ने घोड़े आदि की सवारी नियत की। आठवें ने बालक का जन्म होने के पश्चात् भी कुछ कालतक जब उसके माता-पिता जीवित रहने लगे और बालक का

मुख देखकर भय करने लगे तब उनके भय का निवारण किया। बालक के उत्पन्न होने के बहुत समय पश्चात् तक जब माता पिता जीवित रहने लगे तो उन्हें नवमें कुलकर ने बालक को आशीर्वादादि देना सिखलाया। बालक की उत्पत्ति होने के पश्चात् और भी अधिक काल तक माता-पिता जीने लगे तब दशवें कुलकर ने उनको बालक को चन्द्रमा दिखाना आदि कलि-क्रीडाएँ सिखलाई। बालक के जन्म के बाद माता-पिता बहुत अधिक काल तक जीवित रहने लगे तब प्रजा को भय उत्पन्न हुआ उसका निवारण ग्यारहवें कुलकर ने किया। बारहवें कुलकर ने जब जलवृष्टि से नदी जलाशय आदि हुए तो उनमें तिरने के उपाय व नाव आदि का विधान बतलाया। जब जरायु सहित बालक उत्पन्न होने लगे तब तेरहवें कुलकर ने जरायु का छेदन करना सिखलाया। अब नाल सहित बालक उत्पन्न होने लगे तो चौदहवें कुलकर ने नाल छेदन करना सिखलाया और इन्द्र धनुष, विद्युत् (बिजली) आदि होने लगे तब उनके देखने से उत्पन्न हुए प्रजा के भय को मिटाया, तथा फलों के आकारादि का ज्ञान और भोजन-विधि का ज्ञान कराया। इसके पश्चात् कर्मभूमि की प्रवृत्ति हुई।

तिरेसठशलाका पुरुष

श्री आदि ब्रह्मा ऋषभ देव तीर्थंकर ने नगर, ग्राम, पत्तनादि की रचना का ज्ञान, लौकिक कार्यों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र, और असि मषि कृषि आदि जीवन के उपाय, और दयामूल धर्म की स्थापना की।

चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे तिरेशठ शलाका पुरुष चौथेकाल में उत्पन्न होते हैं।

तीर्थंकर के शरीरों की ऊँचाई व आयु का प्रमाण

आदि तीर्थंकर के शरीर की ऊँचाई पाँचसौ धनुष की होती है। द्वितीय तीर्थंकर से लेकर आठ तीर्थंकरो के शरीर की ऊँचाई पचास-पचास धनुष कम होती गई है। तथा दशमें तीर्थंकर से लेकर पाँच तीर्थंकरो की दश दश धनुष कम और पन्द्रहवें से लेकर आठ तीर्थंकरों की पाँच पाँच धनुष कम शरीर की ऊँचाई है। पार्श्वनाथ के नव हाथ और वर्धमान के सात हाथ शरीर की ऊँचाई है।

प्रथम तीर्थंकर की आयु चौरासी लाख पूर्व, दूसरे की बहत्तर लाख पूर्व, तीसरे की साठ लाख पूर्व, चौथे तीर्थंकर से लेकर पाँच तीर्थकरों की दशदश लाख पूर्व कम, नवें की दोलाख पूर्व, दशवें की एक लाख पूर्व वर्ष की आयु है। ग्यारहवें से लेकर क्रम से चौरासीलाख बहत्तरलाख, साठलाख, तीसलाख, दसलाख, एकलाख, पिच्यानवे हजार, चौरासी हजार पचपनहजार, तीसहजार, दसहजार, एकहजार, एकसौ, और अन्तिम तीर्थंकर की बहत्तर वर्ष की आयु होती है।

तीर्थंकरों के अन्तराल

प्रथम तीर्थंकर के पश्चात् अगले तीर्थंकर जितने काल के बाद होते हैं उसे अन्तराल कहते हैं। ऐसे अन्तराल चौबीस तीर्थंकरों के तेईस होते हैं। प्रथम अन्तराल पचास कोटि सागर, तीन वर्ष, आठ महीने और एक पक्ष प्रमाण है। इतने काल के बीतने पर ऋषभदेव तीर्थंकर के पश्चात् अजितनाथ तीर्थंकर हुए। इसके बाद दूसरे से लेकर चौथे अन्तराल का काल क्रम से तीस लाख कोटि सागर, दशलाख कोटि सागर, नवलाख कोटि सागर है। इस के बाद पाँचवें अन्तर से लेकर पाँच अन्तरालों में क्रम से प्रत्येक अन्तराल दशवें-दशवें भाग प्रमाण है। अर्थात् क्रमसे निब्बे हजार कोटि, नवहजार कोटि, नवसौ कोटि, निब्बे कोटि और नव कोटि सागर प्रमाण अन्तराल है। इसके अनन्तर दशवाँ अन्तराल एकसौ सागर और छियासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष हीन एक कोटि सागर प्रमाण है। इसके बाद ग्यारहवें आदि अन्तराल क्रमशः चौवन सागर, तीस सागर, नव सागर, चार सागर प्रमाण है। पन्द्रहवाँ अन्तराल पौन पल्य हीन तीन सागर प्रमाण है। सोलहवाँ अन्तराल आधे पल्य का है। सत्रहवाँ हजार कोटि वर्ष हीन चौथाई पल्य प्रमाण है। इसके बाद अठारहवें आदि अन्तराल हजार कोटि वर्ष, चौवन लाख वर्ष, छह लाख वर्ष, पाँचलाख वर्ष, तियासी हजार सातसौ पचास वर्ष प्रमाण है। और अन्तिम तेईसवाँ अन्तराल तीन वर्ष आठ महीने व एक पक्ष हीन दौसौ पचास वर्ष का है। अर्थात् दोसौ छियालीस वर्ष, तीन मास और एक पक्ष प्रमाण अन्तराल है। ये सब अन्तराल एक के मोक्ष काल से लेकर दूसरे के मोक्ष काल तकके हैं, जन्मादि की अपेक्षा से नहीं हैं। अर्थात् ऋषभ देव के मोक्ष गमन से अजित नाथ के मोक्षगमन तक मध्य काल प्रथम अन्तराल है। इसी प्रकार सब अन्तरालों में समझ लेना चाहिए।

इन अन्तरालों मे अपनी अपनी आयु के काल को घटाने पर पूर्व तीर्थंकर से आगे के तीर्थंकर का अन्तराल होता है। जैसे प्रथम अन्तराल में से अजित नाथ की आयु को घटा देने से प्रथम जिनेन्द्र के मोक्ष जाने और द्वितीय तीर्थंकर के जन्म लेने के बीच का अन्तरकाल निकलता है। ऐसे ही अन्य का भी जान लेना चाहिए।

श्री महावीर जिनेन्द्र का तीर्थकाल इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण दुषम और इतना ही दुःषम दुःषम है। यह सब मिलाकर बियालीस हजार वर्ष प्रमाण है।

तीसरे काल के तीन वर्ष आठ महीने और एक पक्ष शेष रहने पर प्रथम तीर्थंकर मोक्ष गये और चौथे काल के उतने ही (तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष) बाकी रहने पर श्रीमहावीर भगवान सिद्ध हुए।

जिनधर्म का उच्छेद-काल

पुष्पदंत और शीतलनाथ के अन्तराल मे पाव पल्य, शीतल नाथ और श्रेयोनाथ के अन्तराल में आधा पल्य, श्रेयोनाथ और

वासुपूज्य के अन्तराल में पौन पल्य, वासु पूज्य और विमलनाथ के अन्तराल में एक पल्य, विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तराल में पौन पल्य, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तराल में आधा पल्य, धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में पाव पल्य तक धर्म का उच्छेद (अभाव) चतुर्थ काल मे रहा। उक्त समय में जिन धर्म के वक्ता, श्रोता, आचरण कर्त्ता के अभाव से समीचीन जिनधर्म का अस्तित्व नहीं रहता है।

शक और कल्की की उत्पत्ति।

श्री वर्धमान जिनेन्द्र के मोक्षजाने के पश्चात् छहसौ पॉच वर्ष और पॉच महीने वीतने पर शक (विक्रम) राजा उत्पन्न होता है। और उसके अनन्तर तीनसौ चौरानवे वर्ष और सात महीने बीतने पर कल्की का जन्म होता है।

नियत भोग भूमियाँ

भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र के अतिरिक्त सब भोग भूमियॉ हैं। उनमें देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो उत्कृष्ट भोग भूमियॉ हैं। ये मेरु के निकट दक्षिण और उत्तर मे हैं। इनकी परिस्थिति-जीवों की आयु, शरीरादि सब रचना प्रथम काल के आदि के समान सदा रहती है। हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र में दूसरे काल के समान सब रचना प्रवृत्त होती है। ये मध्यम भोग भूमियाँ हैं। इनमे सर्वदा दूसरा काल (सुषम) रहता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में सदा तीसरा काल (सुषमदुःषम) रहता है। और विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थ काल अवस्थित है।

भरत और ऐरावत सम्बन्धी पॉच-पॉच म्लेच्छ खण्डों मे और विजयार्ध पर्वत पर विद्याधरों की श्रेणियों में दुःषम सुषम काल की आदि से लेकर उसी के अन्ततक जैसी हानि वृद्धि होती है वैसी-हानि वृद्धि होती रहती है। अतः अवसर्पिणीकाल मे तो चतुर्थ काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खंड के अनुक्रम से आयु आदि की हानि होती है। वहॉ पर पंचमकाल व छठा काल नहीं वर्त्तता है। तथा प्रथमादिकाल की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। भाव यह है कि आर्यखण्ड मे प्रथमादि काल की प्रवृत्ति जिस समय होती है उस समय में भी उक्त म्लेच्छखंडादि मे प्रथमादिकाल की प्रवृत्ति नहीं होती है; किन्तु अवसर्पिणी काल मे उस के चतुर्थ काल की आदि से अन्ततक और उत्सर्पिणी काल मे उसके तृतीय काल की आदि से लेकर अन्त पर्यन्त आर्य खंड में हानि वृद्धि जैसी होती है उसी के अनुसार वहॉ पर आर्य खण्ड मे अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी मे हानि वृद्धि होती है। अर्थात् वहा पर एक रूप वर्त्तना है।

देवगति में सुषम-सुषम काल के समान सदा सुख की प्रवृत्ति होती है और नरकगति में दुःषम दुःषम काल के समान सदा दुःखमय प्रवृत्ति रहती है। मनुष्यगति और तिर्यंचगति में छहों काल की प्रवृत्ति होती है।

स्वयंभूरमण नामक द्वीप के मध्य में चारों ओर मानुषोत्तर पर्वत के समान स्वयंप्रभ पर्वत है इससे उसके दो भाग होगये हैं। उन में से स्वयंभूरमण द्वीप के अग्रिमभाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में दुःषमकाल की सी सदा प्रवृत्ति रहती है।

कुमनुष्य भोग भूमि जो समुद्र में है वहाँ तीसरे काल के समान प्रवृत्ति है।

कुभोग भूमि कहाँ कहाँ हैं?

लवण समुद्र के अभ्यन्तर आठ दिशाओं में आठ, और उनके मध्य में आठ, तथा हिमवान् और शिखरी एवं भरत और ऐरावत के दोनों विजयार्धों के अन्तिम तटों पर आठ, इस प्रकार चौबीस द्वीपस्थ कुभोग भूमियाँ हैं। तथा लवण समुद्र के बाह्यतट पर उक्त प्रकार चौबीस कुभोग भूमियाँ लवण समुद्र सम्बन्धी हैं। और कालोदधि में भी लवण समुद्र समान अड़तालीस कुभोग भूमियाँ हैं। ये कुभोग भूमियाँ द्वीपों पर हैं।

जो दिशा सम्बन्धी द्वीप हैं, वे जम्बूद्वीप की वेदिका से पाँचसौ योजन दूरपर समुद्र में स्थित हैं। विदिशाओं और अन्तर (मध्य) के जो द्वीप हैं वे वेदिका से साढे पांचसौ योजन दूर पर अवस्थित हैं। और जो पर्वतों के अन्तिम तट पर अवस्थित हैं वे छहसौ योजन दूर पर हैं। दिशाओं के द्वीप सौ योजन चौडे, विदिशाओं के पचास योजन और शैलान्त द्वीप पच्चीस योजन चौडे हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी द्वीपवर्ती कुभोग भूमि में मनुष्य एक टांगवाले, पश्चिम में पूंछवाले, उत्तर में गूंगे और दक्षिण में सींगवाले हैं। विदिशाओं में खरगोश के समान कान, पूडी के समान कान, ओढने के वस्त्र समान कान और लम्बे कान वाले हैं। अन्तराल (दिशाविदिशा के मध्य) वर्ती द्वीपों में अश्व, सिंह, कुत्ते, भैंसे, शूकर, व्याघ्र, काक, घूक (उल्लू) और कपि के समान मुखवाले मनुष्य हैं। शिखरी पर्वत के दोनों तटों पर मेघ और बिजली के समान मुखवाले मनुष्य हैं। हिमवान् पर्वत के दोनों अन्तिम तटोंपर मत्स्य (मच्छ) मुख और काल मुख हैं। उत्तर विजयार्ध के दोनों अन्त तटों पर हस्ति समान और आदर्श (दर्पण) समान मुखवाले हैं। और दक्षिण विजयार्ध के आखिरी तटों पर गोमुख मेघमुखवाले मनुष्य हैं। उनमें जो एक टांगवाले हैं वे गुफाओं में निवास करते हैं और अतिमिष्ट मृत्तिका का आहार करते हैं। शेष सब पुष्प व फल का आहार करते हैं और वृक्षों पर निवास करते हैं। सब कुभोग भूमि के मनुष्यों की आयु एकपल्य प्रमाण होती है।

कुभोगभूमियों में जन्म लेने वाले जीव

जो जीव जिन लिंग (मुनि भेष) धारण करके मायाचार करते हैं। ज्योतिष, मन्त्र वैद्यक आदि से आहारादि रूप आजीविका करते हैं, रुपया पैसा आदि धन चाहते हैं, ऋद्धि, यश, सातारूप गौरव से संयुक्त हैं, आहार, भय मैथुन और परिग्रह सम्बन्धी संज्ञा (वांछा)

रखते है, गृहस्थों के परस्पर विवाद सम्बन्ध का मेल मिलाते है, सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं, अपने व्रतादि में लगे हुए दोषों की गुरु के निकट आलोचना नहीं करते है, अन्य जीवों को दोष लगाते है, या जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि आदि तप करते हैं, मौन रहित भोजन करते हैं वे कुभोग भूमि में जन्म लेते हैं। इसी प्रकार जो गृहस्थ दान देने के अयोग्य अवस्था (सूतकादि अवस्था) में दान देते हैं तथा कुपात्रों को दान देते हैं वे भी उक्त कुभोग भूमि मे जन्म लेते हैं।

धातकी खंड और पुष्करार्ध द्वीपों की रचना

जम्बूद्वीप से चतुर्गुण विस्तार वाला (चारलाख योजन) धातकी खंड है। उसमें जम्बूद्वीप से दूनी रचना है। और उतनी ही रचना पुष्करार्ध द्वीप में है। इन दोनों द्वीपों के मध्य मे उत्तर दक्षिण तक लम्बे दो दो इष्वाकार पर्वत हैं जो सुवर्णमय हैं। पूर्व पश्चिम में एक हजार योजन चौड़े है और चारसौ योजन ऊँचे हैं और उत्तर दक्षिण मे अपने अपने द्वीपसमान क्रमसे चार लाख और सोलह लाख योजन प्रमाण लम्बे है। एक एक क्षेत्रादि की रचनारूप वसती के धारक हैं।

धातकी खंड और पुष्करार्ध मे दो दो मेरु हैं। बारह २ कुलाचल और चौदह २ क्षेत्र आदि हैं। अर्थात् पर्वत व क्षेत्रादि संख्या मे जम्बूद्वीप से दुगने २ हैं। विस्तार में क्रमसे दुगने २ और अठगुने २ हैं। और ऊँचाई और गहराई आदि में जम्बूद्वीप के कुलाचल ह्रदादि के समान ही हैं। धातकी खंड और पुष्करार्ध के क्षेत्र और कुलाचलों का आकार पहिये के अरछिद्र और अरकाष्ठ के आकार के समान है। अरछिद्र के आकार के समान क्षेत्र है और अरकाष्ठ के आकार के समान कुलाचल हैं। धातकी खंड में पृथिवी कायिक रत्नमय धातकी वृक्ष हैं और पुष्कर है। उनका वर्णन जम्बूद्वीप स्थित जम्बूवृक्ष के समान जानना चाहिए।

लवण समुद्र के पाताल

जम्बूद्वीप की चारो ओर की वेदिका से पिच्यानवे हजार योजन दूर लवण समुद्र मे जाकर चारों दिशाओं में चार महापाताल हैं। उनके तल व पार्श्व भाग वज्रमय हैं। प्रत्येक एक लाख योजन के गहरे है और मध्य भाग मे उतने ही (एक लाख योजन प्रमाण) चौड़े तथा मूल मे मुख भाग मे दशहजार योजन चौड़े हैं। पूर्व दिशा में पाताल, पश्चिम में वडवामुख, उत्तर मे यूपकेसर और दक्षिण में कलंबुक नामक महापाताल हैं। इनमें से प्रत्येक के नीचे के तृतीय भाग में वायु भरा है। मध्य के तृतीय भाग में वायु और जल है और ऊपर के तृतीय भाग मे केवल जल है। रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग मे भवनवासी देवों के भवन हैं। वहाँ पर वातकुमार देव और उनकी देवांगनाएँ क्रीड़ा करती हैं। उससे वायु में क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षुब्ध वायु के निमित्त से पातालों के वायु और जलका निष्कासन व प्रवेश होता है।

उनके निचले में जल वृद्धि होती है। तथा पाताल में वायु के वेग का शमन होजाने पर जल हानि होती है। अर्थात् जल समान स्थिति में आ जाता है। सभी पातालों में एक दूसरे का अन्तर दो लाख सत्ताईस हजार सात सौ योजन और कुछ अधिक तीन कोश प्रमाण है।

उन महापातालों के मध्य में चारों विदिशाओं में चार क्षुद्रपाताल हैं। उनकी गहराई दश २ हजार योजन है तथा मध्य में दश हजार चौड़े हैं। और मूल और ऊपर मुख में एक एक हजार योजन चौड़े हैं। महापातालों की तरह उनके नीचे के तृतीय भाग में वायु है, मध्य के त्रिभाग में वायु और जल है तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

उक्त आठों दिशा व विदिशा में स्थित पातालों के अन्तरालों में एक हजार क्षुद्रपाताल हैं। वे प्रत्येक एक एक हजार योजन के गहरे और मध्य में उतने ही चौड़े हैं तथा मूलतल में व ऊपर मुख में पाँच पाँच सौ योजन चौड़े हैं। उनके भी पूर्व की तरह तीन भाग हैं। पहले (नीचे) के त्रिभाग में वायु, मध्य के त्रिभाग में वायु और जल तथा ऊपर के त्रिभाग में जल है।

भावार्थ—लवण समुद्र का जल समभूमि से ग्यारह हजार योजन ऊंचा है और पूर्णिमा को वह सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। कारण यह कि पातालों के मध्य त्रिभाग में नीचे पवन और ऊपर जल है। सो कृष्णपक्ष में प्रतिदिन पवन की जगह जल होता जाता है और शुक्ल पक्ष में जल की जगह पवन होजाता है। इसलिए शुक्लपक्ष में जल अधिक ऊँचा होता २ पूर्णिमा के दिन सोलह हजार योजन ऊँचा हो जाता है। और कृष्णपक्ष में घटता घटता अमावस्या के दिन अपनी समान स्थिति में आजाता है। अर्थात् समतल भूमि से ग्यारह हजार योजन ऊँचा रहता है। यह इसकी स्वाभाविक स्थिति है। इसका विशेष वर्णन त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों से जानना।

अन्य द्वीप व समुद्र

इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनकी संख्या अढाई उद्धार सागर प्रमाण है। (दश उद्धार पल्य का एक उद्धार सागर होता है)। उन अढाई उद्धार सागर प्रमित द्वीप समुद्रों में १ जम्बूद्वीप, २ धातकी खंड, ३ पुष्करद्वीप, ४ वारुणिवर, ५ क्षीरवर, ६ घृतवर, ७ क्षौद्रवर (मधुवर) ८ नन्दीश्वर, ९ अरुणवर, १० अरुणाभास, ११ कुंडलवर, १२ शंखवर, १३ रुचकवर, १४ भुजगवर १५ कुशगवर, १६ क्रौंचवर आदि असंख्यात द्वीप हैं।

जम्बूद्वीप को चारों तरफ से लवण समुद्र घेरे हुए है, धातकी खंड को कालोद समुद्र घेरे हुए है, पुष्कर द्वीप को पुष्कर समुद्र घेरे हुए है। इस प्रकार उत्तरोत्तर द्वीप व समुद्र एक दूसरे को घेरे हुए हैं। आगे के सब समुद्रों के नाम पूर्व-पूर्ववर्ती द्वीपों के समान हैं। जैसे पुष्कर द्वीप-पुष्कर समुद्र, वारुणि द्वीप-वारुणि समुद्र इत्यादि।

जम्बूद्वीप एकलाख योजन प्रमाण चौडा है और गोल है। उससे आगे द्वीप व समुद्र दूने २ चौड़े और पूर्व-पूर्व को घेरे हुए तथा गोल आकार के धारक हैं।

समुद्रों के जल का रसास्वाद

लवण समुद्र, वारुणि, क्षीरसागर, घृतवर, ये चार समुद्र अपने नामके अनुरूप स्वाद वाले है। लवण समुद्र में जल लवणसा खारे स्वाद वाला है, वारुणिसमुद्र मे मदिरा के समान स्वाद वाला जल है, क्षीरसागर में दुग्धसमान रसवाला जल है और घृतवर में घृतसमान रस का धारक जल है। कालोद, पुष्कर और स्वयंभूरमण इन तीन समुद्रों में जल के समान स्वादवाला जल है। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण समुद्रों के जल का स्वाद इक्षु (ईख-सांठे) के रस के समान है।

लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र तथा अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर मत्स्यादि जीव पाये जाते हैं। क्योंकि ये तीनों समुद्र कर्म भूमि सम्बधी है। शेप समस्त समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं, क्योंकि वे भोगभूमि सम्बन्धी हैं और भोगभूमि में जलचर जीव नहीं होते हैं।

पुष्कर द्वीप के मध्य (बीचोबीच) वलयाकार गोल मानुषोत्तर पर्वत है। उसके भीतर-भीतर अर्थात् ढाई द्वीप और दो समुद्रों में ही मनुष्य पाये जाते हैं। मानुषोत्तर पर्वत को लांघकर बाहर जाने की मनुष्य में सामर्थ्य नहीं है।

मानुषोत्तर पर्वत के परे और स्वयंभूरमण द्वीप के मध्य में स्थित स्वयंप्रभ पर्वत के भीतर अर्थात् आधे स्वयंभूरमण द्वीप तक भोगभूमिया तिर्यंच है। जैसे पुष्कर द्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत है, तथा कुण्डलवर द्वीप के बीचों बीच कुण्डलगिरि और रुचकवर द्वीप के मध्य मे रुचकगिरि है वैसे ही स्वयंभूरमणद्वीप के बीचोंबीच वलयाकार स्वयंप्रभगिरि है। उससे स्वयंभूरमणद्वीप के दो विभाग होगये हैं। उसके परले विभाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र मे कर्मभूमि है। उतना विशेष जानना।

ज्योतिष देवों का वर्णन

चित्रा पृथ्वी के प्रारम्भ से मेरु की चूलिका के अन्तिम भाग तक मध्यलोक माना गया है। मेरुपर्वत की अवगाहना (भूमि के अन्दर-नींव) एक हजार योजन है। वहीं से चित्रा पृथ्वी का प्रारंभ माना है और उसकी मोटाई एक हजार योजन (मेरु पर्वत की नींव प्रमाण) है। चित्रा पृथ्वी के ऊपर के सम भूमि भाग से सातसौ निब्बे योजन ऊंचे से ज्योतिष देवों का निवास क्षेत्र प्रारंभ होता है और नौसौ योजन की ऊँचाई पर समाप्त होता है। अर्थात् एकसौ दश योजन मोटे क्षेत्र मे ज्योतिष देवो का निवास है। जैसा कि राजवार्त्तिक में कहा है—

ज्योतिष् देवों के विमान

णवदुत्तर सत्तसया दससीदी चदुतिगंच दुगचदुक्कं ।
तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरारसणी ॥ १ ॥

अर्थ—इस सम भूमिभाग से सातसौ नव्वे योजन ऊपर जाकर ताराओं का संचार है। उसके ऊपर दश योजन जाकर सूर्य का संचार है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का भ्रमण क्षेत्र है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर नक्षत्र हैं। उसके तीन योजन ऊपर जाकर बुध विचरण करता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर शुक्र का संचार होता है। उसके ऊपर तीन योजन जाकर बृहस्पति भ्रमण करता है। उसके चार योजन ऊपर मंगल का संचार क्षेत्र है। उसके ऊपर चार योजन जाकर शनैश्चर भ्रमण करता है।

त्रिलोकसार मे उक्त कथन से भिन्नता प्रतीत होती है, वह निम्न प्रकार है—

णवदुत्तरसत्तसए दससीदी चदुदुगे च तियचउक्के ।
तारिणससिरिक्खबुहा सुक्कगुरुंगारमंदगदी ॥ ३३२ ॥

अर्थ—समतल भूमिभाग से सातसौ निव्वे योजन ऊपर जाकर तारा हैं। उससे दश योजन ऊपर जाकर सूर्य का भ्रमण है। उससे अस्सी योजन ऊपर जाकर चन्द्रमा का संचार है। उससे चार योजन ऊपर जाकर नक्षत्र हैं। उससें चार योजन ऊपर जाकर बुध है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है। उससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल है तथा उससे तीन योजन ऊपर जाकर मन्दगति (शनैश्चर) है।

राजवार्तिक में नक्षत्रादि चार को तीन तीन योजन के अन्तर और मंगल शनि को चार २ योजन के अन्तर पर कहा है। और त्रिलोक सार में नक्षत्र तथा बुध को चार चार योजन के अन्तर पर और शुक्र, गुरु, मंगल और शनि को तीन २ योजन के अन्तर पर दिखलाया है।

अठासी ग्रहो मे से उक्त कथन से अवशिष्ट ग्रहों के विमान बुध और शनैश्चर के बीच अन्तराल मे है।

विमानों के आकार और वर्ण

सम्पूर्ण ज्योतिष देवों के विमान आधे गोले के आकार है। अर्थात् गोले के बीच मे से बराबर दो टुकड़े करने पर एक आधे

गोले का चौड़ा भाग ऊपर और सकड़ा भाग नीचे रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार ज्योतिष विमानों का है। उनमें देवों के नगर और जिन मन्दिर बने हुए हैं।

ज्योतिष देवों में चन्द्रमा तो इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र है। चन्द्रमा का विमान ५६/६१ योजन अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से छप्पन भाग प्रमाण लम्बा चौड़ा है। तथा २८/६१ योजन मोटा है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से अठाईस भाग प्रमाण उसकी मोटाई है। विमान का आधे गोले के समान आकार है। और उसको वहन करने (उठाने) वाले सोलह हजार देव हैं। निर्मल मृणाल के समान अंकमणि से वह निर्मित हैं।

सूर्य का विमान तपे हुए सुवर्ण के समान कान्तिवाली लोहिताक्ष मणि से निर्मित है। उसकी चौड़ाई लम्बाई ४८/६१ योजन है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भाग में से अड़तालीस भाग प्रमाण सूर्य-विमान लम्बा-चौड़ा है। और २४/६१ योजन प्रमाण उसकी मोटाई है। अर्थात् एक योजन के इकसठ भागों में से चौबीस भाग प्रमाण मोटा है। उसके वाहक (उठानेवाले) देव सोलह हजार हैं।

राहु का विमान अंजन समान कृष्णवर्ण की अरिष्ट मणि से निर्मित है। उसकी लम्बाई चौड़ाई एक योजन प्रमाण है। और मोटाई ढाईसौ धनुष प्रमाण है। उसके वाहक देव चार हजार हैं।

शुक्र का विमान रजतमय है। एक कोश लम्बा चौड़ा है। इसके तथा आगे के सब विमानों के वाहक देव चार चार हजार हैं।

मुक्ता के समान श्वेतवर्ण अंक नामक मणि से बना हुआ बृहस्पति का विमान है। वह कुछ कम एक कोश लम्बा चौड़ा है।

सुवर्णमय पीतवर्ण बुध का विमान है और आधकोश लम्बा चौड़ा है।

मंगल का विमान तपे हुए सोने के समान लोहितमणि का बना हुआ है तथा शनैश्चर का तप्त सुवर्ण मय है। इन दोनों की लम्बाई चौड़ाई आधा कोश प्रमाण है।

केतु का विमान श्यामवर्ण की मणि से निर्मित है तथा कुछ कम एक योजन प्रमाण लम्बा चौड़ा है।

तारा आदि के विमान कम से कम पाव कोश लम्बे चौड़े हैं।

छह मास बीतने पर चन्द्रमा के नीचे राहु और सूर्य के नीचे केतु आता है। उनसे चन्द्रमा और सूर्य के विमान ढक जाते हैं। इसलिए चन्द्र और सूर्य हमको दिखाई नहीं देते। इसीको ग्रहण कहते हैं। चन्द्र-विमान और राहु-विमान का तथा सूर्य और केतु-विमान का परस्पर स्पर्श कभी नहीं होता।

राहु का विमान चन्द्र-विमान से और केतु का विमान सूर्य-विमान से चार प्रमाणांगुल (दो हजार व्यवहारांगुल अर्थात् पौने चौरासी हाथ) नीचे रहता है।

जो ज्योतिष विमान (तारा आदि) समान क्षेत्र में परिभ्रमण करते हैं वे भी परस्पर कभी नहीं मिलते। उनमें कमसे कम एक कोश के सातवें भाग प्रमाण (सवा दो फर्लांग से कुछ अधिक) अन्तर अवश्य रहता है। उनका संयोग कभी होता ही नहीं है।

ज्योतिष विमानों की गति

अढाई द्वीप और दो समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान निरन्तर भ्रमण करते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के बाहर रहने वाले असंख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिष देवों के विमान स्थिर हैं। वे गमन नहीं करते हैं, अपने २ स्थान पर अवस्थित रहते हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के आभ्यन्तर भाग में ६५५३४ (पिच्यानवे हजार पांचसौ चौंतीस) तारे ध्रुव स्थिर हैं। वे अपने स्थान को नहीं छोड़ते हैं। वे इस प्रकार हैं—जम्बूद्वीप में ३६, लवण समुद्र में १३६, घातकी खंड मे १०१०, कालोद में ४११२०, और पुष्करार्ध में ५३२३० हैं।

मानुषोत्तर शैल के आभ्यन्तर भाग के ज्योतिष्देवों के विमान मेरुपर्वत से ग्यारहसौ इक्कीस योजन दूर पर मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। मेरु से ग्यारहसौ इक्कीस योजन तक कोई ज्योतिष-देव-विमान नहीं पाये जाते हैं। तथा सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र के सिवा सब ज्योतिष विमान एक मार्ग पर गमन करते हैं। और नक्षत्र एवं तारे अपनी २ एक परिधि में भ्रमण करते हैं भिन्न भिन्न मार्ग पर भ्रमण नहीं करते।

सूर्य व चन्द्रमा की संख्या

जम्बूद्वीप मे सूर्य और चन्द्रमा दो दो हैं लवण समुद्र मे चार चार हैं। घातकी खण्ड में बारह, २ कालोद में बियालीस २ और पुष्करार्ध द्वीप मे बहत्तर २ हैं। उत्तर पुष्करार्ध में भी बहत्तर २ हैं। सब मिलाकर पुष्कर द्वीप मे एक सौ चवालीस हैं। इसके आगे के द्वीप समुद्रों में दूने दूने होते चले गये हैं। जैसे पुष्कर द्वीप से दूने २८८ सूर्य चन्द्र पुष्कर समुद्र में हैं और पुष्कर समुद्र से दूने ५७६ सूर्य चन्द्र वारुणि द्वीप में हैं और इससे दूने ११५२ वारुणि समुद्र में हैं। इसी प्रकार दूने दूने द्वीप समुद्रों मे सूर्य और चन्द्रमा समझ लेने चाहिए।

चन्द्रमा की सोलह कला (भाग) हैं। उनमे से कृष्णपक्ष की प्रत्येक तिथि में एक एक कला श्याम होती है। इसी को लोग 'घटना' कहते हैं। और शुक्ल, पक्ष मे पुनः एक एक दिन में एक एक कला श्वेतवर्ण होती जाती है। इसीलिए अमावस्या में सम्पूर्ण श्याम होजाने से चन्द्रमा नहीं दिखाई देता और पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है।

इसका आशय यह है कि चन्द्रविमान के नीचे राहु का विमान गमन करता है। उस राहु का भ्रमण सदा ऐसा ही होता है कि जिससे चन्द्रमा की एक एक कला (भाग) कृष्ण पक्ष में तो आच्छादित होती जाती है, और शुक्ल पक्ष मे एक एक कला प्रतिदिन प्रकट होती जाती है।

एक एक चन्द्रमा के साथ सम्बन्ध रखने वाले ग्रह अठासी नक्षत्र अठाईस और तारे छियासठ हजार नवसौ पिचहत्तर कोटि कोटि (६६९७५००००००००००००००) हैं। राहु, केतु, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर आदि ग्रहों के नाम हैं। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका रोहिणी आदि अठाईस नक्षत्र हैं।

प्रत्येक द्वीप या समुद्र सम्बन्धी जो ज्योतिष-विमान हैं उनमें से आधे एक पार्श्व (पखवाडे) भाग में हैं और आधे दूसरे पार्श्व भाग मे हैं।

चन्द्रमा का विचरण क्षेत्र और वीथियां

दो दो सूर्य या दो दो चन्द्रमा का चार क्षेत्र (गमन करने का आकाश प्रदेश) एक है। उसका परिमाण ५१० व ४८/६१ योजन है। इतने क्षेत्र मे गलियाँ निर्धारित हैं-उनका प्रमाण आगे कहेंगे। उनमे एक सूर्य और एक चन्द्रमा गमन करता है। उसीमें दूसरा सूर्य भी गमन करता है। इसलिए दो २ सूर्य और दो २ चन्द्रमा का एक चार-क्षेत्र है।

उक्त चारक्षेत्र मे चन्द्रमा की गलियाँ १५ और सूर्य की १८४ हैं। उनमें से एक एक गली मे एक एक दिन दो सूर्य और दो चन्द्रमा गमन करते हैं।

जो ५१० व ४८/६१ योजन चार क्षेत्र कहा गया है उसमे से जम्बूद्वीप सम्बन्धी सूर्य-चन्द्र का एक सौ अस्सी योजन प्रमाण चारक्षेत्र तो जम्बूद्वीप के भीतर आगया है और शेष चार-क्षेत्र लवण समुद्र मे है। जम्बूद्वीप के सिवा समस्त द्वीप समुद्र सम्बन्धी ज्योतिषों का चार क्षेत्र अपने २ द्वीप समुद्र मे ही है।

सब से मंदगति से गमन करने वाला चन्द्रमा है। उससे शीघ्रगामी सूर्य है। सूर्य से शीघ्रगामी ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारे अति शीघ्र गमन करते हैं।

ज्योतिषियों की आयु

चन्द्रमा की आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य प्रमाण है। सूर्य की आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की है। शुक्र की आयु एक सौ वर्ष अधिक एक पल्य और बृहस्पति की आयु एक पल्य प्रमाण है। बुध, मंगल और शनैश्चर की आयु आधे पल्य प्रमाण है। तारा और नक्षत्र की उत्कृष्ट आयु पाव पल्य और जघन्य पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

ज्योतिष देवों की देवांगनाएँ

सूर्य और चन्द्रमा दोनों के चार २ पट्ट देवांगनाएँ हैं। और यह प्रत्येक पट्ट देवांगना विक्रिया द्वारा चार चार हजार शरीर धारण करने वाली होती है। प्रत्येक पट्ट देवांगना के चार चार हजार परिवार देवियाँ होती हैं।

ज्योतिष देवांगनाओं की आयु अपने पति देव से आधी होती है। इनमें सबसे हीन-पुण्य देव के भी कमसे कम बत्तीस देवांगनाएँ होती हैं।

ज्योतिष देवों में उत्पाद

भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष देवों में वे जीव जन्म लेते हैं-जिन्होंने जिनमार्ग से विपरीत धर्म का आचरण किया हो, या निदान किया हो, या अग्नि में जल कर मरे हों, पानी में डूब कर मरे हों, वृक्ष पर्वत मकान आदि के से नीचे गिरकर मरे हों अथवा परतन्त्रता से बंधनादि के निमित्त से परिषह उपसर्ग सहन द्वारा निर्जरा कर मृत्यु प्राप्त की हो, अथवा पंचाग्नि आदि द्वारा कुतपस्या की हो, या मलीन चारित्र का आराधन किया हो।

इस प्रकार मध्य लोक का वर्णन सम्पूर्ण हुआ अब ऊर्ध्व लोक का स्वरूप कहते हैं।

ऊर्ध्वलोक

उर्ध्वलोक का विस्तार

सुदर्शन मेरु की चूलिका से ऊपर सिद्ध-क्षेत्र पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है। उसकी ऊँचाई सात राजू प्रमाण है। उसमें से डेढ़ राजू प्रमाण में सौधर्म-ऐशान युगल के विमान हैं। उनके ऊपर डेढ़ राजू पर्यन्त सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल के विमान हैं। उसके ऊपर आधे

आधे राजू के अन्तर पर छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजू प्रमाण आकाश में सोलह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर सिद्ध क्षेत्र के बारह योजन नीचे तक क्रमसे नवग्रैवेयक, नव अनुदिश और पंच अनुत्तरविमान हैं।

स्वर्गों में इन्द्र—क्रम

सौधर्म—ऐशान और सानत्कुमार-माहेन्द्र इन दो युगलों में चार इन्द्र हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र और शतार-सहस्रार इन चार युगलों मे चार इन्द्र हैं। तथा आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन दो युगलों में चार इन्द्र हैं। इस प्रकार सोलह स्वर्गो मे बारह इन्द्र हैं।

इन सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। क्योंकि इनमे इन्द्र, सामानिक आदि भेदों की कल्पना होती है। इनके ऊपर नवग्रैवेयक आदि को कल्पातीत कहते हैं। क्योंकि उनमे रहने वाले स [illegible] अहमिन्द्र होते हैं। वहां इन्द्रादि भेदों की कल्पना नहीं है।

नवग्रैवेयकादि का वर्णन

उक्त आठ स्वर्ग—युगलों के ऊपर नवग्रैवेयक हैं। उनमे अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक और उपरिमग्रैवेयक ऐसे तीन भाग हैं और उन तीनों भागों मे तीन तीन ग्रैवेयक पटल हैं। उनके ऊपर नव अनुदिश विमान हैं। १ अर्चि, २ अर्चिमालिनी, ३ वैर, ४वैरोचन, ये चार अनुदिश विमान पूर्वादि चारों दिशा में तथा १ सोम, २ सोमरूप, ३ अंक और ४ स्फटिक ये चार विमान आग्नेयादि विदिशा में स्थित हैं और इनके मध्य मे ६ आदित्य इन्द्रक विमान है।

इनके ऊपर १ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त और ४ अपराजित ये चार अनुत्तर विमान पूर्वादि चारों दिशाओं में हैं और ५ वां सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक विमान उनके मध्य में है।

प्रतर संख्या

सौधर्मादि स्वर्गों में तिरेसठ प्रतर हैं। जैसे महल प्रासाद आदि मे खण्ड (मंजिल) होते है वैसे ही स्वर्गों मे प्रतर (खण्ड-पटल) हैं। एक प्रतर मे एक इन्द्रक-विमान मध्य मे होता है। सौधर्मयुगल में इकतीस प्रतर हैं। सानत्कुमार युगल में सात, ब्रह्मयुगल में चार, लान्तवयुगल मे दो, शुक्रयुगल मे एक, शतार युगल में एक, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गों मे छह प्रतर हैं। ग्रैवेयक मे नव प्रतर तथा अनुदिश में एक और पंचानुत्तर में एक प्रतर है। इस प्रकार सब तिरेसठ प्रतर है।

विमानों की स्थिति

मेरु की चूलिका से ऊपर एक बालाग्र के अन्तर पर सौधर्म युगल का ऋतु नामक पहला इन्द्रक विमान है। जो इन्द्रक का नाम है, प्रतर का भी वही नाम समझना चाहिए। इसी ऋतु विमान की सीध में ऊपर आगे के सब इन्द्रक विमान हैं। सौधर्म युगल के ऋतु नामक इन्द्रक विमान से विमल नामक दूसरा प्रतर (पटल) असंख्यात योजन के अन्तराल पर है। इसी प्रकार प्रत्येक पटल के असंख्यात २ योजन का अन्तराल है। अर्थात् एक पटल के बाद असंख्यात योजन प्रमाण जगह खाली पड़ी है, उसके बाद दूसरा पटल है।

प्रथम इन्द्रक के चारों दिशाओं में चार विमान श्रेणियां हैं। और विदिशा में पुष्पप्रकीर्णक (बिखरे हुए फूलों के समान क्रमरहित) विमान हैं। एक एक श्रेणि (पंक्ति) में बासठ बासठ विमान हैं। उन्हें श्रेणिबद्ध विमान कहते हैं। प्रति पटल एक एक विमान घटता गया है; इसलिए सौधर्म युगल के अन्तिम 'प्रभ' नामक पटल में बत्तीस श्रेणिबद्ध विमान हैं। डेढ़ राजू में सौधर्म युगल सम्बन्धी इकतीस पटल हैं। प्रत्येक पटल सम्बन्धी उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध विमान तथा वायव्य ईशान विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में तो उत्तर-इन्द्र ईशान की आज्ञा चलती है और तीन दिशा सम्बन्धी श्रेणिबद्ध विमानों में (इन्द्र विमानों में) तथा आग्नेय नैऋत्य विदिशा सम्बन्धी प्रकीर्णक विमानों में दक्षिण इन्द्र सौधर्म का शासन है। जिन विमानों में सौधर्म इन्द्र की आज्ञा चलती है उनके समूह को सौधर्म स्वर्ग कहते हैं और जिन विमानों में ऐशान इन्द्र का शासन है उन के समूह को ऐशान स्वर्ग कहते हैं।

उसके पश्चात असंख्यात योजन का अन्तराल है। उसके बाद सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग युगल का प्रथम पटल है। वहाँ से असंख्यात योजन का अन्तराल छोड़कर दूसरा पटल है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए। उन पटलों के मध्य में इन्द्रक आदि विमान पूर्वोक्त प्रकार हैं। उत्तर श्रेणिबद्ध विमान और ऐशान कोण व आग्नेय कोण (विदिशा) के प्रकीर्णक विमानों में उत्तर इन्द्र माहेन्द्र का आधिपत्य है तथा बाकी के सब विमानों पर दक्षिणेन्द्र सानत्कुमार का अनुशासन है। इसी अपेक्षा से उसके द्वारा शासित विमानों के समूह को सानत्कुमार का स्वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार ऊपर के सब स्वर्ग पटलों में भी समझ लेना चाहिए।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ट, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार इन आठ स्वर्गों में चार इन्द्र हैं। यहाँ इन्द्र की अपेक्षा से नाम भेद नहीं है, किन्तु बसती की अपेक्षा से भेद हैं। जैसे यहाँ पर भी देश का एक अधिपति होता है, किन्तु नगरों के भिन्न २ नाम होते हैं इसी प्रकार वहाँ पर जानना चाहिए।

आनत-प्राणत, आरण-अच्युत इन चार स्वर्गों में चार इन्द्र हैं, उनमें से आनत और आरण तो दक्षिण इन्द्र हैं और प्राणत और अच्युत उत्तर इन्द्र हैं। यहाँ पूर्वोक्त प्रकार इन्द्र के भेद से स्वर्गों का भेद जानना चाहिए।

प्रत्येक पटल में एक एक श्रेणिबद्ध विमान घटता गया है, इसलिए अन्तिम ग्रैवेयक के सब से ऊपर के पटल में प्रत्येक दिशा में दो दो विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोड़कर अनुदिश विमान का पटल है। उसके मध्य में एक इन्द्र विमान है और चारों दिशाओं में चार और विदिशाओं में चार इस प्रकार नव विमान हैं। उनके ऊपर असंख्यात योजन का अन्तराल छोड़कर पंचअनुत्तर विमान हैं।

पाँच अनुत्तर विमानों के ऊपर बारह योजन का अवकाश छोड़कर सिद्ध-क्षेत्र है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक रचना है। जिस प्रकार प्रत्येक पटल के ऊर्ध्व व अधोभाग में अन्तराल है, उसी प्रकार प्रत्येक विमान के ऊर्ध्वभाग व अधोभाग और तिर्यग्भाग में अन्तराल है। एक विमान दूसरे विमान से सर्वथा जुदा है। समान भाग में एक इन्द्र की सीध में रहने वाले विमानों का एक पटल माना गया है। नरक भूमियों के समान विमान एक दूसरे से जुड़े हुए नहीं है, इसलिए उनको पृथ्वी नहीं कहा है। लोकान्त तक पहुंचने वाले भूभाग को पृथ्वी कहते हैं। इसलिए सात नरक भूमियाँ और एक ईषत् प्राग्भार नामक सिद्धशिला ये आठ पृथ्वियाँ मानी गई हैं।

प्रकीर्णक विमानों की संख्या, विस्तार और बाहुल्य

सौधर्म स्वर्ग में बत्तीस लाख, ऐशान में अठाइस लाख, सानत्कुमार में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर युगल में चार लाख, लान्तव-कापिष्ठ युगल में पचास हजार, शुक्र-महाशुक्र युगल में चालीस हजार, शतार-सहस्रार में छह हजार विमान हैं। तथा आनतादि चार स्वर्गों में समुदाय रूप सात सौ विमान है। अधोग्रैवेयक के तीन पटलों में एक सौ ग्यारह विमान, मध्यम ग्रैवेयक के तीन पटलों में एकसौ सात तथा उपरिम ग्रैवेयक के तीन पटलों में इक्यानवे विमान हैं। एवं अनुदिश में नव और अनुत्तर में पाँच विमान हैं। इनमें से अपने २ स्वर्गों के इन्द्रक और पंक्तिबद्ध विमानों की संख्या को घटाने पर प्रकीर्णक विमानों की संख्या निकल आती है।

प्रथम ऋतु इन्द्रक विमान का विस्तार मनुष्य लोक समान पैंतालीस-लाख योजन प्रमाण है और सब से अन्तिम सर्वार्थ सिद्धि विमान का विस्तार जम्बूद्वीप समान एक लाख योजन प्रमाण है। शेष मध्यवर्ती द्वीतीयादि इन्द्रक विमानों का विस्तार क्रमशः अल्प २ प्रमाण है।

श्रेणिबद्ध विमानों का विस्तार (लम्बाई चौड़ाई) असंख्यात योजन प्रमाण है और प्रकीर्णक विमानों का विस्तार संख्यात योजन और असंख्यात योजन है। कई एक प्रकीर्णक संख्यात योजन विस्तार वाले है और कई एक असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। समस्त कल्प विमानों के पाँचवें भाग प्रमाण विमान तो संख्यात योजन विस्तारवाले हैं और शेष विमान असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। तथा अधोग्रैवेयकों में तीन विमान, मध्य ग्रैवेयक में अठारह और उपरिम ग्रैवेयकों में सत्रह विमान एवं पंच अनुत्तरों में एक विमान संख्यात योजन

विस्तार वाला है। शेष सब असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं। अर्थात् संख्यात योजन विस्तार वाले विमानों से चौगुने असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं।

सौधर्मादि छह युगलों के छह स्थान, आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान, तथा तीन तीन अधोग्रैवेयकादि का एक एक स्थान, और अनुदिश व अनुत्तर का एक स्थान-ऐसे ग्यारह स्थान हुए। उनमें से आदि के स्थान (सौधर्म-ऐशान युगल) मे ग्यारह सौ इक्कीस योजन बाहुल्य (मोटाई) के धारक विमान हैं और शेष दश स्थानों में निन्यानवे निन्यानवे योजन प्रमाण बाहुल्य प्रतिस्थान कम होता चला गया है। प्रथम स्थान मे ११२१, दूसरे से लेकर अन्ततक क्रमसे १०२२, ९२३, ८२४, ७२५, ६२६, ५२७, ४२८, ३२९, २३०, १३१ इस प्रकार विमानों का बाहुल्य (मोटाई) है।

विमानों का रंग

सौधर्म-ऐशान के विमान पाँच वर्णों के हैं। सानत्कुमार-माहेन्द्र कृष्ण वर्ण रहित चार वर्णों के है। ब्रह्मादि चारस्वर्गों में नीलवर्ण के भी विमान नहीं हैं, शेषतीन वर्णों के हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों में लाल रंग के भी नहीं हैं, शेष दो वर्णों के ही विमान पाये जाते हैं। आनत से लेकर अनुत्तर तक केवल शुक्लवर्ण के ही विमान हैं।

इन्द्र के निवास करने का विमान और उसका नाम

सौधर्म युगल के अन्तिम इकतीसवें पटल मे इन्द्रक विमान से दक्षिण दिशा सम्बन्धी अठारहवें श्रेणिबद्ध विमान में तो सौधर्म इन्द्र निवास करता है और उत्तर दिशा के श्रेणिबद्ध के विमानों के अठारहवें विमान में ईशान इन्द्र निवास करता है। सानत्कुमार युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी सोलहवें श्रेणिबद्ध विमान में सानत्कुमार इन्द्र और उत्तर दिशा सम्बन्धी सोलहवे विमान में माहेन्द्र इन्द्र निवास करता है। ब्रह्म युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी चौदहवें श्रेणिबद्ध विमान में ब्रह्म इन्द्र निवास करता है। लान्तवयुगल के उत्तर दिशा सम्बन्धी बारहवें श्रेणिबद्ध विमान मे लान्तव इन्द्र का निवास है। शुक्रयुगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी दशवें श्रेणिबद्ध विमान मे शुक्र इन्द्र का निवास है। शतार युगल के अन्तिम पटल के उत्तर दिशा सम्बन्धी आठवें श्रेणिबद्ध विमान मे शतार इन्द्र का निवास है। आनत युगल के अन्तिम पटल के दक्षिण दिशा सम्बन्धी छठे श्रेणिबद्ध विमान में आनत इन्द्र का निवास है और उत्तर दिशा के विमान में अच्युत इन्द्र का निवास है।

जिस विमान मे इन्द्र का निवास है, उस विमान का नाम स्वर्ग के नाम पर है। जैसे सौधर्म इन्द्र जिस विमान में निवास करता है उसका नाम सौधर्म है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिए।

इन्द्रों के नगर

सौधर्मादि चार स्वर्गों के चार स्थान, ब्रह्म युगलादि चार युगलों के चार स्थान, आनतादि चारस्वर्गों का एक स्थान-इन नवस्थानों में अपनी २ देवांगनाओं सहित इन्द्रों के नगर हैं। उनमें से सौधर्म मे चौरासी हजार योजन प्रमाण, ऐशान में अस्सी हजार, सानत्कुमार में बहत्तर हजार, माहेन्द्र मे सत्तर हजार, ब्रह्मयुगल मे साठ हजार, लान्तव युगल मे पचास हजार, शुक्र युगल में चालीस हजार, शतार युगल में तीस हजार, आनतादि चार स्वर्गों मे बीस बीस हजार योजन प्रमाण विस्तार के धारक चौकोर रमणीय नगर हैं। इन नगरों के चारों ओर बहुत ऊँचे २ सुन्दर प्राकार (कोट) हैं, और उनके चारों दिशाओं में चार चार गोपुर (दर्वाजे) हैं।

ऐसे पॉच पॉच कोट प्रत्येक नगर के हैं। एक कोट से दूसरे कोट के बीच का अन्तराल तेरह लाख योजन से लेकर चौरासी लाख योजन तक का है। पाँच कोटों के चार अन्तराल होते हैं। उनमें से पहले अन्तराल में सेना के अध्यक्ष और अंगरक्षक देव रहते हैं। दूसरे में तीन जाति के पारिषद देव रहते हैं। तीसरे में सामानिक देव निवास करते हैं। तथा चौथे अन्तराल में अश्वादिपर चढ़ने वाले देव, आभियोग्य देव और किल्विषजाति के देव अपने २ योग्य भवनों में रहते हैं। उक्त पॉचवें कोट से आधेलाख योजन की दूरी पर नन्दनवन है। वहॉ के वन आनन्द देने वाले हैं इसलिए उन्हें सामान्यरूप से नन्दनवन कहते हैं। वैसे तो उनका नाम पृथक् पृथक् है। उन वनों में चम्पक, आम्र, अशोकादि सुन्दर व सुगन्धमय अति सुहावने वृक्ष हैं। पद्म-ह्रद के समान ह्रद (सरोवर) हैं और प्रत्येक वन में एक एक चैत्य वृक्ष है। सौधर्मादि स्वर्गों में चारो वनों में चार चैत्यवृक्ष हैं। प्रत्येक चैत्यवृक्ष जम्बूवृक्ष के समान प्रमाण वाला है। प्रत्येक चैत्यवृक्ष के चारों पार्श्वभागों में एकएक पल्यंकासन जिन-प्रतिमा विराजमान है।

उन वनखंडो से कई योजन दूर पर पूर्वादि दिशाओं मे लोकपालों के नगर हैं; जो साढे बारह लाख योजन विस्तार वाले हैं। उनके समीप अग्नि कोणादि चारों विदिशाओं में गणिका-महत्तरियों के लाख लाख योजन के लंबे चौडे नगर बने हैं। (वेश्याओं के समान जो देवांगनाएं होती हैं, उन्हें गणिका कहते हैं। और उनमें जो प्रधान देवांगनाएं होती है, उन्हे गणिका-महत्तरी कहते हैं।)

महादेवियां और उनकी विक्रिया, परिवारादि का वर्णन—

सम्पूर्ण इन्द्रों के आठ आठ महादेवियां होती हैं। सौधर्मादि छह युगलों के छहस्थान और आनतादि चार स्वर्गों का एक स्थान ऐसे सात स्थानों मे एक एक महादेवी की परिवार-देवियां महादेवी सहित आधी आधी होती हैं। अर्थात् क्रमसे सोलह हजार, आठ हजार, चार हजार, दोहजार, एक हजार, पांचसौ और ढाईसौ होती हैं। आठ २ महादेवियों मे से प्रत्येक महादेवी के मूल शरीर सहित सोलह सोलह

हजार वैक्रियिक शरीर होते हैं। तथा उक्त सातों स्थानों मे से शेष छहस्थानों में दूने दूने वैक्रियिक शरीर होते हैं। अर्थात् प्रथम सौधर्म युगल स्थान की महादेवी अपने मूल शरीर सहित सोलह हजार वैक्रियक शरीर बनाती है। सानत्कुमार युगल की महादेवी बत्तीस हजार वैक्रियक शरीर धारण करती है। इसी प्रकार आगे आगे के स्थानों की महादेवियां दूने २ वैक्रियिक शरीर बनाती हैं। इस तरह अन्त के आनतादि-स्थान की महादेवियाँ दसलाख चौबीस हजार वैक्रियिक शरीर बनाती हैं।

देवियों के परिवार मे जो देवियाँ इन्द्र की वल्लभा (प्यारी) होती हैं उन्हें वल्लभिका कहते हैं। उक्त सात स्थानों में अर्थात् छह युगलों के छह और आनतादि का एक स्थान, इस प्रकार सातस्थानों में क्रमसे बत्तीस हजार, आठहजार दोहजार पांचसो, अढाईसो, सवासो और अन्त में तिरेसठ वल्लभिकाएँ होती हैं।

इन्द्र के आस्थान—मण्डप का स्वरूप

अमरावती नामक इन्द्र का पुर है। उसके मध्य इन्द्र के निवास करने के मन्दिर से ईशान विदिशा मे सुधर्मा नामक आस्थान-मण्डप अर्थात् सभास्थान है। वह सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पिचहत्तर योजन ऊँचा है। उसके पूर्व, उत्तर और दक्षिण दिशा में तीन द्वार हैं। उनमें से प्रत्येक द्वार की चौड़ाई तो आठ योजन और ऊँचाई सोलह योजन है। उस आस्थान के मध्य भाग में इन्द्र का सिंहासन है। उसके सिंहासन के सामने आठ महादेवियों के आठ आसन हैं। उन महादेवियों के आसन के बाहर पूर्वादि दिशाओं मे १ सोम, २ यम, ३ वरुण और ४ कुबेर इन चार लोकपालों के चार आसन हैं। तथा इन्द्र के आसन से आग्नेय, दक्षिण और नैऋत्य दिशा में तीन प्रकार के परिषदों के क्रमसे बारह हजार, चौदह हजार, सोलह हजार आसन हैं। तथा त्रायस्त्रिंशत् देवों के तेतीस आसन भी नैऋत्य दिशा में ही हैं। पश्चिम दिशा में सेनाध्यक्षों के सात आसन हैं। वायव्य और ईशान दिशा में सामानिक देवों के आसन हैं। सौधर्म के चौरासी हजार, सामानिक देवों के आसनों में से बियालीस हजार तो वायव्य दिशा में और बियालीस हजार ही ईशान दिशा में हैं। अंगरक्षक देवों के आसन चारों दिशाओं मे हैं। और वे प्रत्येक दिशा में चौरासी हजार हैं। ये आसन सुधर्मा सभा सम्बन्धी हैं।

मानस्तम्भ और करण्डक

उस आस्थान-मण्डप के सामने पीठ सहित एक मानस्तम्भ है जो एक योजन चौड़ा व बत्तीस योजन ऊँचा है। उसके सोलह धाराएँ हैं प्रत्येक धारा एक कोश के विस्तार (लंबाई) की धारक हैं। यहाँ मानस्तंभ बारह कोने वाला गोल है।

उस मानस्तम्भ में रत्ननिर्मित सांकले हैं। उनमें रत्नमय करण्डक (पिटारे) हैं। वे चौथाई कोश प्रमाण चौड़े और एक

कोश प्रमाण लम्बे है। उनमें तीर्थंकर देवों के पहनने योग्य आभरण भरे रहते हैं। इन्द्र इनमें से आभरण निकालकर तीर्थंकरों के लिए पहुँचाता है। छत्तीस योजन ऊँचा मानस्तम्भ है। उसमे ऊपर से सवा छह योजन नीचे तक और नीचे पौने छह योजन की ऊँचाई तक करण्ड नहीं पाये जाते हैं, मध्य मे चौबीस योजन की ऊँचाई में करण्ड पाये जाते हैं

सौधर्म स्वर्ग में जो मानस्तम्भ पर करण्ड हैं, उनमें भरत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। ईशान स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं उनम ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। सानत्कुमार स्वर्ग में मानस्तभ पर जो करण्ड हैं उनमें पूर्वदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। माहेन्द्र स्वर्ग में मानस्तम्भ पर जो करण्ड हैं, उनमें पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के आभरण हैं। मानस्तम्भो पर तीर्थंकरों के आभरण पाये जाते हैं, इसलिए वे देवों से पूज्य हैं।

इन्द्र का उत्पत्ति—गृह

उक्त मानस्तम्भ के निकट आठ योजन चौड़ा, लम्बा और उतना ही ऊँचा उपपाद गृह है। उसमें दो रत्नमयी उपपादशय्या बनी हैं। यहाँ इन्द्र का जन्म स्थान है। इसके समीप अनेक शिखरों से अलंकृत परमोत्कृष्ट जिन मन्दिर है।

कल्पवासिनी देवांगनाओं के उत्पत्ति-स्थान

स्वर्गों की सब देवांगनाएँ सौधर्म और ऐशान इन दो स्वर्गों में ही जन्म लेती हैं। ऊपर देवियों का जन्मनहीं होता है। दक्षिण दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ तो सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं और उत्तर दिशा के स्वर्गों से सम्बन्ध रखने वाली देवांगनाएँ ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होती हैं। जिन विमानों में देवनहीं हैं, केवल देवांगनाएँ ही पाई जाती हैं ऐसे विमान सौधर्म स्वर्ग में चार लाख हैं। उनमें जब देवियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तब जिस देव की जो नियोगिनी होती है उस देवी को वह देव वहाँ आकर अपने २ स्वर्ग स्थान में ले जाता है। शेष सौधर्म स्वर्ग में छब्बीस लाख और ऐशान में चौबीसलाख विमान ऐसे हैं जो देवों और देवियों से सम्मिश्र हैं। उनमें देव भी उत्पन्न होते हैं और देवियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

देवों का प्रवीचार

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग मे काय से प्रवीचार (काम-सेवन) होता है। उक्त दोनों स्वर्गों के देव-देवांगना मनुष्य जैसे काम सेवन करते है वैसे काम सेवन करते हैं। ऊपर के दो स्वर्ग (सानत्कुमार-माहेन्द्र) के देव-देवांगना परस्पर शरीर का स्पर्श करके काम सेवन

की अभिलाषा का पूर्ण करते हैं। उनको शरीर स्पर्श करने मात्र से तृप्ति होती है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों में देव-देवाङ्गना एक दूसरे का रूप देखकर काम-तृप्ति का अनुभव करते हैं। शुक्रादि चार स्वर्गों के ये देव-देवाङ्गनाएँ एक दूसरे का शब्द सुनकर तृप्त हो जाते हैं। तथा इनके ऊपर आनतादि चार स्वर्गों के देव-देवाङ्गनाएँ मन में संकल्प करके तृप्ति का अनुभव करते हैं। इनके ऊपर ग्रैवेयक आदि में अहमिंद्र हैं उनके प्रवीचार नहीं होता है। वे काम-सेवन की भावना से रहित हैं।

वैमानिक देवों की विक्रिया, गमन-शक्ति और अवधिज्ञान

अधोदिशा में (नीचे के क्षेत्र में) विक्रिया करके देव जितने क्षेत्र तक जा सकते हैं अवधि-ज्ञान द्वारा उतने ही क्षेत्र में स्थित पदार्थों को जान सकते हैं। देवों के नीचे गमन करने की शक्ति और अवधिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानने की शक्ति ये दोनों समान होती है। इसलिए इन दोनों का एक साथ वर्णन करते हैं। सौधर्मादि दो स्वर्गों के देवों की विक्रियाशक्ति व अवधिज्ञानशक्ति प्रथम नरक पृथ्वी पर्यन्त है। सानत्कुमारादि दो स्वर्गों में दूसरी पृथ्वी पर्यन्त है। ब्रह्मादि चार स्वर्गों में तीसरी पृथ्वी पर्यन्त है। शुक्रादि चार स्वर्गों में चौथी पृथ्वी पर्यन्त है। आनतादि चार स्वर्गों में पाँचवी पर्यन्त है। नवग्रैवेयकों में छठी पृथ्वी पर्यन्त है। अनुदिश व अनुत्तर निवासियों की सातवीं पृथ्वी पर्यन्त है। सम्पूर्ण देवों का ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी अवधिज्ञान अपने २ स्वर्ग के ध्वजादण्ड पर्यन्त ही होता है। इससे ऊपर के क्षेत्र को अवधि ज्ञान से नहीं जान सकते हैं। नव अनुदिशवासी देव अपने विमान के शिखर से लेकर नीचे के बाह्य तनुवातवलय पर्यन्त (कुछ कम चौदह राजू) क्षेत्र को अवधि ज्ञान द्वारा जानते हैं। अनुत्तर विमानवासी सम्पूर्ण लोकनाली को जानते हैं। सम्पूर्ण विमानवासी देव अवधिज्ञान से असंख्यात कोटि कोटि योजन प्रमाण क्षेत्र को जानते हैं। इतना विशेष है कि ऊपर ऊपर के देवों का ज्ञान अधिक २ होता है। और नीचे २ के देवों का हीन होता है। असंख्यात कोटि कोटि योजन क्षेत्र सामान्य रूप से कहागया है।

अवधि ज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण यहाँ प्रकरण पाकर संक्षेप से लिख दिया है। अवधिज्ञान के विषय भूत द्रव्य काल और भाव का स्वरूप ज्ञानाचार में अवधिज्ञान के वर्णन में विशद रूप से लिख आये हैं; इसलिए यहां नहीं लिखा गया है। विशेष जानने की अभिलाषा हो तो वहाँ से जान लें।

सौधर्मादि देवों के जन्म व मरण का विरहकाल।

जितने काल पर्यन्त किसी का वहाँ जन्म न हो उसे जन्म का अन्तर और जितने काल पर्यन्त वहाँ पर किसी का मरण न हो उसे मरण का अन्तर कहते हैं। उत्कृष्ट रूप से सौधर्म और ऐशान दोनों स्वर्गों में सात दिन हैं। आगे के सानत्कुमारादि दो स्वर्गों में पन्द्रह

दिन, ब्रह्मादि चार स्वर्गों में एक मास, शुक्रादि चार स्वर्गों में दो मास, आनतादि चार स्वर्गों में चार मास, ग्रैवेयक आदि में उत्कृष्ट जन्म व मरण का अन्तर (विरह) छहमास है।

इन्द्रादि का उत्कृष्ट विरहकाल

इन्द्र और इन्द्र की पट्टदेवी और लोकपाल इनका विरहकाल छहमास है। सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद् और अंगरक्षक इन का उत्कृष्ट विरहकाल चार मास है।

आभियोग्यादि अधम देव कैसी क्रिया व भावना से पर्याय पाते हैं ?

जो मनुष्य विशेष काम-वासना से वासित होकर स्त्रीगमनादि काम-चेष्टाएँ करते हैं, कन्दर्प परिणाम युक्त रहते हैं, वे स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार उत्कृष्ट से उत्कृष्ट ऐशान स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं; वहा पर भी कन्दर्प जाति के ही देव होते हैं। जो मनुष्य गानादि संगीत से आजीविका करते हैं, नाटक आदि के परिणाम से जिनका चित्त अनुरंजित रहता है वे कैल्विषिक परिणामवाले प्राणी स्वोपार्जित अन्य शुभ कर्म के अनुसार लान्तवस्वर्ग तक जन्म लेते है किन्तु वहाँ पर भी वे किल्विषिक जाति के देव ही होते हैं। जो मनुष्य पापक्रिया करते हैं तथा सेवक वृत्ति दासत्वादि धारण कर अपने हाथ से नाई आदि की नीच क्रियाएँ करते हैं, आभियोग्य भावना से भावित हैं वे अच्युत स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। और वहाँ पर भी वे आभियोग्य जाति के ही देव होते हैं। ये सब अपने अपने स्वर्ग सम्बन्धी जघन्य आयु को पाते हैं।

घातायुष्क की आयु

देवों की आयु हम पहले लिख आये हैं। केवल यहां पर घातायुष्क की आयु का विवेचन करते हैं।

किसी जीव ने पूर्वभव में अधिक आयु का बंध किया था वह पश्चात् परिणामों की विशेषता वश उसे घटाकर अल्प करदेता है तो उस जीव को घातायुष्क कहते हैं। आयु का घात दो प्रकार का होता है, एक अपवर्त्तनघात और दूसरा कदलीघात। बध्यमान आयु का घटना तो अपवर्त्तनघात है और उदीयमान (भुज्यमान) आयु का घात करना कदलीघात है। यहाँ पर कदलीघात की संभावना ही नहीं होसकती क्योंकि अनपवर्त्य आयु है। इसलिए यहाँ पर अपवर्त्तनघात ही का ग्रहण किया है। पूर्वोक्त प्रकार घातायुष्क सम्यग्दृष्टि हो तो उस जीव के सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त पूर्वोत्कृष्ट आयु से आधे सागर अधिक आयु होती है। घातायुष्क की जघन्य आयु आधा सागर है, यह सौधर्म युगल की अपेक्षा से है। आगे आगे की घातायुष्क की जघन्य आयु पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट आयु प्रमाण है।

भवनत्रिक देवों में घातायुष्क सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की आयु

घातायुष्क यदि सम्यग्दृष्टि हो तो उसकी आयु भवनवासी में आधा सागर और व्यन्तर ज्योतिष में आधा पल्य आयु अपनी २ उत्कृष्ट आयु से अधिक होती है। यदि घातायुष्क मिथ्यादृष्टि हो तो उसकी सर्वत्र भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देवों में अपनी अपनी उत्कृष्ट आयु के प्रमाण से पल्य के असंख्यातवें भाग अधिक आयु होती है।

लौकांतिक देवों का स्वरूप, अवस्थान, आयु आदि का वर्णन

समस्त लौकान्तिक देव परस्पर में हीनाधिकता से रहित अर्थात् समान वैभव के धारक व विषयों से विरक्त होते हैं। देवों में ऋषि समान होते हैं। इसलिए उन्हें देवर्षि कहते हैं। उनका चित्त निरन्तर अनित्यादि अनुप्रेक्षा (भावना) के चिन्तन में रत रहता है। ये सम्पूर्ण इन्द्रादि के पूज्य होते हैं, चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं, तीर्थंकरों के निष्क्रमण कल्याण (तपः कल्याण) के समय प्रतिबोध करने आते हैं। लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर प्रमाण होती है। इतना विशेष है कि अरिष्ट जाति के लौकान्तिक देवों की आयु नवसागर प्रमाण होती है। ये सब अतिविशुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं। एक मनुष्य भव धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

वे ब्रह्मलोक (पाँचवे स्वर्ग) के अन्त में निवास करते हैं। इसलिए उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ क्रमशः पूर्वोत्तरादि दिशाओं में निवास करते हैं।

अत्यन्त तीव्र अन्धकार रूप समुद्र समान गोलाकार एक तमःस्कन्ध (अन्धकार का समूह) अरुण समुद्र से उत्पन्न हुआ है। वह मूल में असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार (लंबाई चौडाई) वाला है और ऊपर में क्रमसे बढता हुआ मध्य भाग व अन्त भाग में संख्यात योजन मोटा होकर कुक्कुट कुटी के समान ब्रह्म युगल के अरिष्ट-इन्द्रक-विमान के अधोभाग मे अवस्थित हुआ है। उसकी आठ अन्धकार पंक्तियाँ ऊपर की ओर उठकर अरिष्ट विमान के चारों तरफ होगई हैं। वहाँ पर उनके चारों दिशाओं में दो दो विभाग हो गये हैं। और वे तिर्यग् लोक के अन्त तक फैल गई हैं। अर्थात् आठ अन्धकार पंक्तियों की सोलह पंक्तियाँ होगई हैं। उन सोलह अन्धकार पंक्तियों के अन्तरालों में सारस्वादि देव निवास करते हैं। पूर्वोत्तर कोण (ईशान) दिशा में सारस्वत विमान, पूर्व दिशा में आदित्य विमान, पूर्व दक्षिण (आग्नेय) दिशा में वह्नि विमान, दक्षिण में अरुण विमान, दक्षिण पश्चिम (नैऋत्य) दिशा में गर्दतोय विमान, पश्चिम दिशा में तुषित विमान, पश्चिम-उत्तर (वायव्य) दिशा में अव्याबाध विमान और उत्तर में अरिष्ट विमान हैं। इन आठ भेदों के अन्तराल (मध्यप्रदेश) मे अग्न्याभ-सूर्याभ आदि आठ जाति के लौकान्तिक देव हैं। वे इस प्रकार हैं—

सारस्वत-आदित्य के मध्य में अग्न्याभ-सूर्याभ जाति के देवों के विमान, आदित्य और वह्नि के मध्य में चन्द्राभ-सत्याभ के विमान, वह्नि और अरुण के मध्य में श्रेयस्कर-क्षेमंकर के विमान, अरुण और गर्दतोय के मध्य में वृषभेष्ट-कामचर के विमान, गर्दतोय और तुषित के मध्य में निर्माणरज-दिगन्तरक्षित, तुषित और अव्याबाध के मध्य में आत्मरक्षित-सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्ट के अन्तराल मे मरुत्-वसु, अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल मे अश्व-विश्व जाति के लौकांतिक देवों के विमान हैं।

सारस्वत सातसौ सात, आदित्य सातसौ सात, वह्नि सातहजार सात, अरुण सातहजार सात, गर्दतोय नवहजार नव, तुषित नवहजार नव, अव्याबाध ग्यारहहजार ग्यारह, अरिष्ट ग्यारहहजार ग्यारह हैं।

अग्न्याभ देव सातहजार सात, सूर्याभ देव नवहजार नव, चन्द्राभदेव ग्यारहहजार ग्यारह, सत्याभ तेरहहजार तेरह, श्रेयस्कर पन्द्रहहजार पन्द्रह; क्षेमंकर सत्रहहजार सत्रह इस प्रकार आगे दो हजार दो प्रत्येक देवों में बढाते जाना चाहिए।

कल्पवासिनी देवियों की आयु का प्रमाण

सौधर्म-ऐशान युगल में देवांगनाओं की जघन्य आयु कुछ अधिक पल्य प्रमाण है। प्रथम स्वर्ग में उत्कृष्ट पाँच पल्य प्रमाण है। ऊपर के प्रत्येक स्वर्ग में जघन्य आयु पूर्व पूर्व स्वर्गयुगल की उत्कृष्ट आयु के प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट आयु ऐशान स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ग्यारह स्वर्गों मे दो दो पल्य और आनतादि चार स्वर्गों मे सात सात पल्य बढती गई है। प्रथम स्वर्ग में पाँच पल्य दूसरे में सात पल्य, तीसरे में नव पल्य, चौथे मे ग्यारह पल्य, पाँचवें में तेरह पल्य, छठे में पन्द्रह पल्य, सातवें में सत्रह पल्य, आठवें मे उन्नीस पल्य, नवें मे इक्कीस पल्य, दशवें में तेईस, ग्यारहवें में पच्चीस, बारहवें में सत्ताईस, तेरहवें में चौतीस, चौदहवें में इकतालीस, पन्द्रहवें में अडतालीस और सोलहवें स्वर्ग में पचपन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु होती है।

देवों के उच्छ्वास और आहार के विषय में पूर्व लिख आये हैं। जितने सागर की देवों की आयु होती है, उतने पक्ष बीतने पर वे उच्छ्वास लेते हैं। तथा उतने ही सागर बीतने पर उनके आहार की इच्छा होती है। जैसे सौधर्म युगल के देवों की आयु दो सागर की होती है। उन देवों के दो पक्ष के अन्तर पर उच्छ्वास होता है और दो हजार वर्ष के अन्तर पर आहार की इच्छा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सब देवों मे समझ लेना चाहिए।

गुणस्थान की अपेक्षा देवगति में जन्म

असंयत व देशसंयत मनुष्य और तिर्यंच अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। द्रव्य से जिन लिंग के धारक

(द्रव्य लिंगी मुनि) और भाव से पहले, चौथे, या पाँचवें गुण स्थान में हैं, तथा निरतिचार चरित्र का पालन करते हैं वे मरकर अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जन्म लेते हैं, उनके ऊपर नहीं जासकते। सम्यग्दृष्टि भाव-मुनि अर्थात् द्रव्य और भाव से मुनि धर्म का आचरण करनेवाले मुनि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जन्म धारण करते हैं। भोगभूमिज सम्यग्दृष्टि सौधर्मद्विक में उत्पन्न होते हैं। भोगभूमिज मिथ्यादृष्टि जीव भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। पंचाग्नि आदि तपश्चरण करनेवाले तापसी उत्कृष्ट रूप से भवनत्रिक में जन्म धारण करते हैं। चरक, एकदंडी, त्रिदण्डी सन्यासी अधिक से अधिक ब्रह्म स्वर्ग तक जन्म लेते हैं। कांजी आदि का आहार करनेवाले आजीवक साधु अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

अनुदिश व अनुत्तर विमान से चयकर नारायण तथा प्रतिनारायण नहीं होते हैं।

सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र, उसकी शची नामा महादेवी, उसके सोम आदि चार लोकपाल और सानत्कुमार आदि दक्षिण इन्द्र, सब लौकान्तिक देव और सब सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब चयकर मनुष्य भव धारण कर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

मनुष्यगति, तिर्यंचगति और भवनत्रिक से निकलकर जीव सीधे तिरेसठ शलाका के पुरुष नहीं होते हैं। (चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इनको शलाका-पुरुष कहते हैं)।

देवों के जन्म का वृत्तान्त।

जैसे उदयाचल पर सूर्य उदित होता है वैसे उपपाद शय्यापर अन्तर्मुहूर्त्त में छह पर्याप्ति पूर्ण करके मनोहर सुगन्धमय सुख रूप स्पर्शवाले पवित्र शरीर का धारक देव उत्पन्न होता है। जन्म के समय वहाँ आनंद रूप बाजे बजते हैं, जय जयकार आदि स्तुति रूप शब्द होता है, उन सबसे अपने को देव पर्याय मिली जानकर तथा वहाँ उपलब्ध हुए वैभव (ऐश्वर्य) व अपने देवांगनादि परिवार को देखकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान से पूर्व-जन्म के वृत्तान्त को जानकर वह देव धर्म की प्रशंसा करता है कि धर्म के आचरण से मैं ऐसे दिव्य सुख सामग्री से परिपूर्ण स्वर्ग को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार धर्म की स्तुति करके वह निर्मल सुगन्धमय जल से परिपूर्ण ह्रद में स्नान करता है। उसके बाद अन्य देव उसका पट्टाभिषेक करते हैं और दिव्य वस्त्राभूषण पहनाते हैं। सम्यग्दृष्टि देव तो स्वयमेव देवाधिदेव जिनेन्द्र का अभिषेक और पूजन करता है और मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों से संबोधित हुआ जिनेन्द्र भगवान की पूजन करता है। वहाँ के सब देव सुख रूप समुद्र में मग्न होते हुए व्यतीत काल को नहीं जानते हैं। तीर्थंकरों की महापूजा और उनके गर्भादि पंच कल्याणकों में कल्पवासी देव आते हैं। और अहमिन्द्र देव अपने स्थानों में ही सात पैंड तीर्थंकरों की दिशा में चलकर रत्नमये मुकुट के धारक अपने मस्तक पर अंजुलि लगाकर अति विनीत भाव से नमस्कार करते हैं।

स. प्र.

देवादि की विभूति किनको प्राप्त होती है ?

जिन जीवों ने अनेकप्रकार के तपश्चरणा से आत्मा को विभूषित किया है, सम्यग्दर्शन से जिनकी आत्मा पवित्र है और सम्यग्ज्ञान से जिन की आत्मा में उज्ज्वल प्रकाश हो गया है, जो शील से सौम्य हैं उनही को स्वर्ग-मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

ईषत्प्राग्भार नामक अष्टम पृथ्वी

तीन भुवन के मस्तक पर आरूढ ईषत्-प्राग्भार नामकी आठवीं धरा (पृथ्वी) है। उसकी चौड़ाई एकराजू, लम्बाई सात राजू और मोटाई आठयोजन प्रमाण है। वह लोक के अन्ततक चली गई है। उस अष्टम धरा के मध्य में रूप्यमय उत्तान (ऊपर से चौडी नीचे से सकडी) श्वेत छत्र के आकार गोल सिद्धशिला है। जिसका व्यास (लम्बाई चोड़ाई) पैतालीस लाख योजन प्रमाण-मनुष्य लोक के बराबर-है। उसकी मोटाई मध्य में आठ योजन प्रमाण है और चारों ओर से क्रम क्रमसे घटती चली गई है। उस सिद्धशिला के ऊपर में जो तनुवात है, उसके अन्त भाग में सम्यक्त्वादि आठ गुणों से भूषित आनन्द से परिपूर्ण तृप्त सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। इस लोक मे जिस पुरुषपुंगव के सत्यज्ञान उत्पन्न होजाता है, वस्तु का यथार्थ स्वरूप जिसके हृदय पटलपर प्रतिबिम्बित हो जाता है उसकी आत्मा में अद्वितीय सन्तोषामृतपानजनित अनुपम आह्लाद उत्पन्न होता है तब जो चराचर त्रिलोकवर्ती पदार्थों का साक्षात् अवलोकन करते रहते हैं, जो अनन्त सुखादि के स्वामी हैं उनके आह्लाद का क्या ठिकाना ? चक्रवर्ती के सुख से भोगभूमिज मनुष्य का सुख अनन्त गुणा है। उससे अनन्तगुणा सुख धरणेंद्र के मानागया है। धरणेन्द्र से अनन्तगुणा देवेन्द्र के है। उससे अनन्तगुणा अहिमिन्द्र के होता है। अतीत अनागत वर्तमान सम्बन्धी उन सब सुखों को एकत्र किया जावे तो उससे भी अनन्त गुणा सुख सिद्धों के क्षणमात्र से उत्पन्न होता है। यह कथन भी बिल्कुल ठीक नहीं है। क्योंकि अन्य सब संसारिक सुख आकुलतामय है, पराश्रित (इन्द्रियजन्य) है और सिद्धों का सुख निराकुल और आत्मोत्थ है। उस सुख का ठीक ठीक कथन करने की वचन में शक्ति नहीं है, वह वचनातीत है।

इस प्रकार लोक के आकार का और उसके मध्यवर्ती क्षेत्रादि का तथा उनमे निवास करनेवाले जीवों के कर्मानुसार प्राप्त अवस्थाओं का चिन्तन करने से आत्मा मे धर्माचरण की रुचि विशेष जागृत होती है। लोक मे जिन प्राणियों ने धर्मपालन किया व परभव मे स्वर्गादि सम्बन्धी दिव्य सुखों का अनुभव करते हुए निराकुल सिद्धावस्था को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने। तथा जिन्होने धर्माचरण की उपेक्षा की, मिथ्यात्व का सेवन किया, विषयसेवन मे ही सुख समझा, हिंसादि पापों मे ही मग्न रहे, उनको नरकादि के हृदयविदारक दुःख उठाने पड़े, अनन्त काल के लिए उस निगोद पर्याय की वेदना के पात्र बनना पड़ा जहां से कि निकलकर बाहर त्रस पर्याय मे आना भी अति कठिन है। इत्यादि विचारों का लाभ लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से होता है। अर्थात् लोक के स्वरूप का विधिवत् अभ्यास करने से लोक

में कहाँ कहाँ कितना दुःख है और कहाँ कहाँ कितना सुख है तथा नित्य निराकुल सुख कहाँ है—यह सब समझ में आजाता है; जिससे कि धर्म से प्रेम व पाप से भय उत्पन्न होता है और जीव का सुधार होता है। इसलिए लोकानुप्रेक्षा को बार-बार भाओ और अपने को कल्याण मार्ग में लगा रखो।

अशुचि (अशुभ) अनुप्रेक्षा

णिरिएसु असुहमेयं तमेव तिरिएसु बंधरोहादी।
मणुएसु रोगसोगादियं तु दिवि माणसं असुहं ॥ ३० ॥ (मूला द्वा०)

अर्थ—नरकों मे सर्वदा और सर्वप्रकार दुःख ही होता है। वहाँ पर लेशमात्र भी (सुख) नहीं है। तिर्यंचों मे वध, बन्धन, रोध आदि जन्य दुःख प्राप्त होता है। मनुष्यों मे रोग-शोकादि के निमित्त से निरन्तर संक्लेश उत्पन्न होता है तथा देवों मे मानसिक दुःख सताप आत्मा को नित्य जलाता है।

और भी कहा है—

असुहा अत्था कामा य हुंति देहो य सव्वमणुयाणम्।
एओ चेव सुभो णवरि सव्व सोक्खायरो धम्मो ॥ १८१३ ॥ (भ० आ०)

अर्थ—अर्थ (धन) और काम (विषयाभिलाषा) अशुभ है। मनुष्यों का शरीर अशुभ है। संसार में सब जीवों को सुख देने वाला एक धर्म ही शुभ है। अर्थात् अर्थ कामादि सब आत्मा को अशुचि-अपवित्र करने वाले हैं। आत्मा को पवित्र करने वाला व सदा का अनुभव कराने वाला संसार में यदि कोई है तो वह एक धर्म ही है।

धन के लोभ से यह प्राणी राजदण्डादि भावी दुःख की परवाह न करके चोरी करता है। उत्तम कुल के अयोग्य अन्याय मार्ग पर गमन कर जनता में निन्दनीय होता है। परलोक में नरकादि के दुःखों को भोगता है, अतः धन मुक्ति का शत्रु, सब अनर्थों का मूल कारण और महाभय का जनक है।

विषय महाअपवित्र वधूणित शरीर से उत्पन्न होते हैं और वह शरीर रूपी कुटी (झोंपड़ी) अस्थि (हड्डी) रूपी पत्तों से बनी है। नसाजाल रूपी त्वचा (वक्कल) से बंधी है। मांसरूपी मिट्टी से लीपी-पोती गई है, और अपवित्र रक्त, चर्बी मल मूत्रादि से भरी है और ग्लानि उत्पन्न करने वाली है। जिस प्रकार लकड़ी का कोयला जलादि से धोने पर भी शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार यह देह पवित्र और सुगन्धित जलादि पदार्थों से निरन्तर धोते रहने पर भी कभी पवित्र नहीं होती। बल्कि यह उन पवित्र और सुगन्धित जलादि को अपवित्र और दुर्गन्धमय बना देती है। क्या मल (विष्ठा) से भरा हुआ घड़ा जलादि के द्वारा धोने पर कहीं पवित्र हो सकता है ? यदि नहीं तो क्या महा अपवित्र रुधिरादि से भरा हुआ यह शरीर जलादि से पवित्र हो सकता है ? सर्वथा पवित्र तो एक रत्नत्रय रूप धर्म ही है जिसका भली भाँति आचरण करने से जल्लौषधि, मलौषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ मुनि को उत्पन्न होती हैं। जिनसे मुनि के शरीर के स्वेद मल मूत्रादि अपवित्र पदार्थ औषधि रूप हो जाते हैं और उनके स्पर्श को प्राप्त हुई वायु भी जीवों के भयानक और असाध्य रोगों का क्षण भर में ध्वंस करती है। अतः धर्म ही परमपवित्र है, जो अपवित्र पदार्थों में पवित्रता और अद्भुत शक्ति उत्पन्न करता है।

हे मुने ! धर्म में पवित्रता इसलिए है कि वह परम पवित्र शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होता है और यह शरीर अपवित्र इसलिए है कि इसका उपादान कारण भी अपवित्र है।

यहां कहा है—

कणिका शुद्धितः शुद्धः कणिकाघृतपूरकः।
वर्चोबीजः कथं देहो विशुद्धयति कदाचन ॥ १०३४ (सं. भ. आ.)

अर्थ—गेहूँ के आटे से बना हुआ घृतपूरक (घेवर) शुद्ध है; क्योंकि उसका कारण गेहूँ का आटादि शुद्ध है। रक्त और वीर्य से उत्पन्न हुआ शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है ? क्योंकि उसका उपादान कारण अशुद्ध है।

शरीर की उत्पत्ति का क्रम —

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥ १००७ ॥

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं ।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण ॥ १००८ ॥

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण ।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥ १००९ ॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती ।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥ १०१० ॥ (भ. आ.)

अर्थ—माता के उदर के भीतर गर्भाशय (बच्चेदानी) मे पहुंचा हुआ माता का रज और पिता का वीर्य दश दिन पर्यन्त कलल पर्याय मे रहते हैं । अर्थात् अग्नि के संयोग से पिघले हुए तांबे और चांदी के समान रहते हैं । तथा दशदिन पर्यन्त कलुपित (मिश्रित मलान) अवस्था में रहते हैं । पश्चात् दशदिन पर्यन्त दृढ अवस्था मे रहते हैं । इस प्रकार एक मासक में रजोवीर्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं ।

इसके अनन्तर दूसरे मास में उसकी बुलबुले की सी अवस्था होती है । तीसरे मास में वह कठिन (ठोस) हो जाता है । इसके बाद वह चतुर्थ मास मे मास की पेशी (डली) के आकार होता है । पाँचवें मास में उस मांसपेशी से पाँच अंकुर निकलते हैं । नीचे के दो अंकुरों से दो पाँव, बीच के दो अंकुरों से दो हाथ और ऊपर के अंकुर से मस्तक का प्रारंभ होता है । उक्त अवयवों की अंकुरावस्था रहती है । तदन्तर छठे मास में हाथ पाँव नितम्ब (चूतड) छाती, पीठ और मस्तक इन आठ अंगों निर्माण होता है तथा आँख, कान, नाक, कपोल, ओष्ठ अंगुलि आदि उपांगों की रचना होती है । सातवें माम में गर्भ के अवयवों पर चर्म और रोम की उत्पत्ति होती है और हाथ पांवों के नख उत्पन्न होते हैं । आठवें मास में उस गर्भ में हलन चलन किया होने लगती है । नववें या दसवें मास में गर्भस्थ बालक उदर से बाहर निकलता है । अर्थात् कभी नववें या कभी दशवें मास मे जन्म होता है ।

जिनसे यह शरीर बना है उन घृणित पदार्थों का नाम मात्र उच्चारण करने से आगम में भोजन-अन्तराय बताया है । फिर ऐसे शरीर से प्रेम करना क्या उचित है ? इस शरीर में सिवाय अशुचि पदार्थों के अन्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पवित्र हो ।

शरीर के स्वरूप का वर्णन प्रथम किरण में पृष्ठ ७४ पर कर आये हैं। इस महा अपवित्र पदार्थों से भरे हुए शरीर में जो राग करेगा उसे पुनः गर्भ में निवास करना पड़ेगा। गर्भ में जीव की कैसी दशा होती है ? सुनिए:—

असुइ विलविले गब्भे वसमाणो वत्थि पडल पच्छण्णो ।
मादुइ सेमलालाइयं पु तिव्वासुहं पिबदि ॥ ३३ ॥ (मू. द्वा.)

अर्थ—मूत्र, विष्टा, कफ पित्त रुधिरादि से घृणित माता के उदर में निवास करता हुआ प्राणी जरायु से आवृत (ढका हुआ) रहता है। वहाँ पर माता के द्वारा भक्षण किये हुए भोजन से बना हुआ जो कफ और लार मिश्रित रस है, जिसमें भयानक दुर्गन्ध होती है, उसे पीता है। गर्भ मे यह जीव जब ऐसे महा अपवित्र आहार का ग्रहण करता है तब सोचना चाहिए कि जिस शरीर की उत्पत्ति का मूल कारण ही अशुचि है, जिसके प्रारंभ का आहार भी अपवित्र है, तथा संसार में जितने घृणाकारक पदार्थ हैं वे जिसमे सदा भरे रहते हैं, उसमें अनुराग की कौनसी वस्तु है ? इसमें जो जीव का अनुराग होता है उसका अज्ञान और मोह के सिवा कोई कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता। क्या कोई बुद्धिमान् विष्टा रुधिरादि से भरे पात्र को शुचि समझेगा और उससे प्रेम करेगा ? जीव को अन्धा बनाने वाले इस मोह को धिक्कार हो।

शुद्धि के भेद

शुचिपना (शुद्धि) दो प्रकार का मानागया है—१ लौकिक और २ लोकोत्तर। लौकिक शुचिता का श्रावक धर्म में विस्तृत वर्णन किया जावेगा; क्योंकि यहाँ उसका सम्बन्ध नहीं। मुनियों के लोकोत्तर शुचिता मानी गई है। लेकिन नाम निक्षेप मात्र यहाँ भी लौकिक शुद्धि का निरूपण करदेते हैं।

१ लौकिक शुद्धि के ८ भेद और उनका स्वरूप

लौकिक शुद्धि आठ प्रकार की मानी गई है—१ कालशुद्धि २ अग्निशुद्धि, ३ भस्मशुद्धि, ४ मृत्तिकाशुद्धि, ५ गोमयशुद्धि, ६ जल-शुद्धि, ७ पवनशुद्धि और ८ ज्ञानशुद्धि। श्री राजवार्तिक में पवन शुद्धि के बजाय निर्विचिकित्सा शुद्धि मानी है। ये आठों शुद्धियां शरीर को शुद्ध करने में असमर्थ हैं।

१ कालशुद्धि—रजस्वला स्त्री तीन रात्रि बीतने पर शुद्ध होती है। सूतक की शुद्धि दश दिन में और पातक-शुद्धि बारह दिन में मानी गई है। इत्यादि।

२ अग्निशुद्धि—शूद्रादि से स्पर्श किये हुए धातु-निर्मित पात्र अग्नि में तपाने पर शुद्ध माने गये हैं।

३ भस्मशुद्धि—भोजन के उच्छिष्ट वर्तन भस्म से मांजने पर शुद्ध होते हैं।

४ मृत्तिकाशुद्धि—मलमूत्रादि के हाथों को तथा उच्छिष्टादि के वर्तनों को मृत्तिका से धोने पर पवित्र माने गये हैं।

५ गोमयशुद्धि—भूमि को गोमय (गोबर) से लीपने पर उसकी शुद्धि होती है।

६ जलशुद्धि—वस्त्रादि की शुद्धि जल से धोने पर होती है, तथा कर्दमादि शरीर के लग जाने पर या अस्पृश्य पदार्थों का स्पर्श होने से जलस्नान करने पर शुद्धि मानी गई है।

७ पवनशुद्धि—भूमि, पाषान, काष्ठ-कपाट आदि की शुद्धि वायु से मानी गई है।

८ ज्ञानशुद्धि—ज्ञान द्वारा शुद्धि को ज्ञान शुद्धि कहते हैं। कालाध्ययनादि ज्ञान को विनय कर ज्ञान की आराधना भी ज्ञान शुद्धि है।

इस प्रकार लौकिक शुद्धि का संक्षेप से वर्णन किया। मुनिमार्ग में लोकोत्तर शुद्धि कार्य-कारिणी है अतः अब उसका वर्णन करते हैं—

लोकोत्तर शुद्धि के आठ भेद और उनका स्वरूप

श्री भट्टाकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में लोकोत्तर शुद्धि आठ प्रकार की कही है-१भावशुद्धि, २ कायशुद्धि, ३ विनयशुद्धि, ४ ईर्यापथशुद्धि, ५ भिक्षाशुद्धि, ६ प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७ शयनासन शुद्धि, ८ वाक्यशुद्धि।

१ भावशुद्धि—कर्मों के क्षयोपशम से मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होने से तथा रागादि के अभाव से जो आत्म-विशुद्धि होती है वह भावशुद्धि है।

२ कायशुद्धि—निराभरण, संस्कार रहित, अंगविकार से शून्य, यथाजातरूप को धारण करने वाली, प्रफुल्लित वदन जो शरीर की परम शान्त वृत्ति है वह कायशुद्धि है।

३ विनयशुद्धि—परमभट्टारक श्री अरिहंत देव में, पूज्य गुरुओं में तथा ज्ञानादि गुणों में यथायोग्य भक्ति का होना, गुरु के अनुकूल सर्वा प्रवृत्ति करना, आगम का पठन पाठन करना तथा मनन करने के पश्चात् द्रव्य, क्षेत्र, कालादि के अनुसार आगमानुकूल उपदेश करना, आचार्य की अनुमति के अनुसार प्रवृत्ति करना विनय शुद्धि मानी गई है।

४ ईर्यापथशुद्धि—नाना प्रकार के जीवों के स्थानों व उत्पत्ति के स्थानों को जानकर जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए
ूर्य के प्रकाश से प्रकाशित चार हाथ भूमि को अपने नेत्रों से पूर्ण सावधानतया शोधते हुए चलना, न तो बहुत शीघ्र चलना, न बहुत विलम्ब
ररते हुए चलना, संभ्रान्तचित्त होकर न चलना, इधर उधर दिशाओं का अवलोकन करते हुए न चलना, किन्तु सम्मुख मार्ग पर दृष्टि रखते
ए–खोये हुए रत्न को ढूंढने वाले मनुष्य के समान उपयोग, पूर्ण दृष्टि से मार्गस्थ जीवों को बचाते हुए–गमन करना ईर्यापथशुद्धि कही
ाती है।

५ भिक्षाशुद्धि—जिसने लौकिक और लोकोत्तर प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करलिया है, पिच्छिका से शरीर के ऊपर के और नीचे के
ाग का प्रमार्जन कर लिया है, जो आचार शास्त्रोक्त काल और देश को जान कर उसमे प्रवृत्ति करने में कुशल (प्रवीण) है, जिसको
ाहारादि पदार्थों की प्राप्ति में हर्ष और अप्राप्ति में विषाद नहीं होता है, जिसका चित्त मान से संतुष्ट और अपमान से कुंठित नहीं
ोता है, जो लोक–निंद्य कुलों में गोचरी नहीं करता है, जो दीन व अनाथशाला का तथा विवाह याग सम्बन्धी घरों का भोजन ग्रहण नहीं
रता है, भोजन के अलाभ में जिस के चित्त पर लेश मात्र दीनता प्रकट नहीं होती, आचार शास्त्रोक्त निर्दोष व निरन्तराय प्रासुक
ाहार से ही वैयावृत्यादि करने के लिए अपने शरीर का रक्षण करता है, सरस नीरस आहार में तथा लाभ व अलाभ में जो समान वृत्ति
ाला है, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित युवति के द्वारा दिये हुए घास को चरने में ही जैसे गाय लगी रहती है, और उस
युवति के सौन्दर्य, वस्त्राभूषण और हाव भाव के अवलोकन करने में निरुत्सुक होती है, उसी प्रकार मुनीश्वर भिक्षा(भोजन)परोसने वाले मनुष्यों
के सुन्दर ललित रूप, वेष, भूषा, विलासादि के तथा उनके द्वारा की गई आहार पान की योजना के अवलोकन करने में निरुत्सुक हुआ
यथाप्राप्त निरवद्य सरस नीरस आहार को ग्रहण करता है उसे मुनि के भिक्षा शुद्धि मानी गई है।

६ प्रतिष्ठापनशुद्धि—शरीर के मलमूत्र कफ नख रोमादि का ऐसे जन्तु रहित एकान्त स्थान मे निक्षेपण करना जिससे कि किसी जन्तु
को बाधा न हो और मनुष्यों को ग्लानि हो इसे प्रतिष्ठापन शुद्धि कहते हैं।

७ शयनासनशुद्धि—जिसस्थान पर स्त्री क्षुद्र–मनुष्य चोर मद्यपायी खटीक जुआरी आदि पापी मनुष्यों का निवास हो, जहां
शृङ्गार रस का पोषण होता हो, सुन्दर ललित वेषवती वेश्यादि का तथा नपुंसक गौ महिषी आदि तिर्यंचों का गमनागमन होता हो, तथा
गीत नृत्य वादित्रादि का प्रचार हो रहा हो, ऐसे स्थानों का परित्याग कर, जन्तु-बाधा रहित अकृत्रिम पर्वत की गुफा वृक्ष कोटरादि में तथा
सूने घरों में अपने उद्देश से रहित(खाली)किये गये या खाली कराये गये स्थानों में शयनासन(सोने बैठने,) को शयनासन-शुद्धि कहते हैं।

८ वाक्यशुद्धि—जिनसे पृथिवीकायिकादि जीवों के आरम्भ में प्रेरणा न हो, जिनमें दूसरे जीवों को पीड़ाजनक कटु

कठोर असुहावने वचनों का प्रयोग न हो, जो व्रत शील के पोषण करने वाले हों, इस प्रकार के हित, मित और प्रिय वाक्यों के उच्चारण करने को वाक्यशुद्धि कहते हैं।

आस्रवानुप्रेक्षा

दुक्ख-भयं-मीण-पउरे संसार-महण्णवे परमघोरे।
जंतु जंतु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं ॥ ३७ ॥ (मू० व्रा०)

अर्थ—दुःखभय रूपी मत्स्य जिसमें भरे हैं—ऐसे महाभयानक संसार—समुद्र में जो ये सब संसारी प्राणी डूबते हैं उसका मूल कारण आस्रव है।

भावार्थ—जिसकी आत्मा में राग-द्वेष मोह का निवास है, उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है। जिस भाव के द्वारा कर्मों का आगमन होता है उसे भावास्रव कहते हैं, और कर्मों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं। आगम में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषायादि को आस्रव कहा है, वे सब राग द्वेष के ही परिणाम हैं। इनके निमित्त से आत्मा में निरंतर कर्मों का आगम होता रहता है। जैसे समुद्र में पड़े हुए जहाज के पेंदे में छेद होजाने पर उसमें निरन्तर जल भरता रहता है, उसी प्रकार संसार समुद्र में पड़े हुए इस आत्मा के अन्दर भी राग द्वेष या मिथ्यात्वादि रूप छेद (आस्रव) हो रहे हैं, उनके द्वारा निरन्तर कर्म आते रहते हैं। उनके निमित्त को पाकर आत्मा के साथ लगे हुए कार्माण-वर्गणा रूपुद्गल कर्म रूप बन जाते हैं।

कर्म बनने की योग्यता रखने वाले सूक्ष्म और बादर पुद्गल-परमाणुओं से यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। जो शरीर का हिलना चलना, वचनों का उच्चारण तथा मन में भले बुरे विचार निरन्तर होते हैं उनसे आत्मा के प्रदेशों में क्रिया होती है और उससे वे कर्म-परमाणु खिंचते हैं तथा आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। जैसे अग्नि से तपा हुआ गोला जल के मध्य पड़ा हुआ चारों ओर से जल को खींचता है, उसी प्रकार मन वचन काय की क्रिया से संतप्त आत्मा चारों ओर से कर्म परमाणुओं को प्रतिक्षण ग्रहण करता रहता है। ये आगत कर्म परमाणु तब तक कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते, जब तक कि आत्मा में मिथ्यात्व, अविरति आदि का सद्भाव न हो। जैसे सूखे घड़े पर लगी हुई रज चिकनाई के बिना उस पर नहीं ठहरती है—वायु के लगते ही दूर हो जाती है। अतः यह सिद्ध है कि ये मिथ्यात्व, अविरति आदि ही कर्म-शत्रुओं को उत्पन्न करने वाले हैं। ये ही महा शत्रु हैं। आस्रव से बचने के लिए इनको अपनी आत्मा से हटाना चाहिए। इनका स्वरूप संक्षेप मे इस प्रकार है—

वीतराग सर्वज्ञ अर्हंत भगवान् के द्वारा जो द्रव्य, पदार्थ व तत्वों को स्वरूप वर्णन किया गया है, उसका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित श्रद्धान न करना ही मिथ्यात्व है। हिंसा, असत्य, स्तेय (चोरी), अब्रह्म (मैथुन) और परिग्रह इनका त्याग न करना अविरति (असंयम) है। प्रशस्त क्रियाओं के आचरण करने में उदासीनता रखने को प्रमाद कहते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये चारों राग द्वेष की सन्तान हैं। द्वेष से क्रोध-मान उत्पन्न होते हैं और राग से माया-लोभ की उत्पत्ति होती है। यह अज्ञानी जीव अपने हित अहित के विचार से पराङ्मुख हुआ अहित करने वाले शरीर, इन्द्रिय-विषय आदि में तो अनुराग करता है और हितकर अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि धर्म के आचरण से विरक्त रहता है—उनसे द्वेष करता है। आत्मा के शत्रु जो विषय कषाय हैं उनको सुख देने वाले समझ अपनाता है। आत्मा के मित्र सम्यक्त्व संयमादि को दुःखद (शत्रु) समझ उनसे दूर भागता है।

दुर्लभ मनुष्य भव पाकर धर्माचरण की तो उपेक्षा करता है और विषयादि की अभिलाषा करता है। यह विवेकहीन कुकृत्य उस अविवेकी मनुष्य के समान है, जो रत्न द्वीप मे जाकर रत्नों का तो त्याग करता है और काष्ठ का भार ग्रहण करता है। अथवा उस पुरुष के समान है जो पूर्व पुण्य के योग से सुन्दर उपवन में पहुंच कर भी अमृत फल को छोड़कर विष फल का भक्षण करता है। यह नर भव पूर्व पुण्य के उदय से मिला है। इसे पाकर जीव को चाहिए कि वह इसे अमृतमय धर्म के पान करने में लगावे। विषयादि रूप विष का पान करके तो पहले ही इसने अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत दुःख पाये हैं। इसलिए उनका त्याग करना ही इसके लिए हितकर है। जिस दुष्ट योग पाप-जनक मन वचन काय की क्रिया से अशुभास्रव होता है वही जीव का शत्रु है; क्योंकि वही कर्म शत्रुओं का जनक है। अतः यहां शुभ अशुभ आस्रव का विशेष स्वरूप समझाते हैं। अनुकम्पा (दया) और शुद्धोपयोग पुण्य-कर्म के आस्रव द्वार हैं तथा इनसे विपरीत परिणाम पापास्रव के द्वार हैं। योग द्वारा आये हुए कर्मों में पुण्य (शुभ) रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पुण्य कहते हैं, और अशुभ-रूप परिणमन के उत्पन्न होने को पाप कहते हैं।

अनुकम्पा के तीन भेद और उनका स्वरूप

अनुकम्पा (कृपा) तीन प्रकार की है—१ धर्मानुकम्पा, २ मिश्रानुकम्पा और ३ सर्वानुकम्पा। उनमें से धर्मानुकम्पा का स्वरूप इस प्रकार है—

धार्मिक पुरुषों पर भक्ति रूप परिणाम होने को धर्मानुकम्पा कहते हैं। उस धर्मानुकम्पा से प्रेरित हुआ विवेकी मनुष्य स्वशक्ति को न छिपाकर संयम में तत्पर रहने वाले संयमीजनों के योग्य अन्न-पान, औषध, वसती, उपकरणादि संयम के साधक पदार्थों का दान करता है। उनपर आये हुए उपसर्गों का निवारण करता है। 'आज्ञा दीजिए, मैं आपकी सेवा मे उपस्थित हूँ' इत्यादि मधुर वचनों का उच्चारण करता

हुआ उनकी सेवा में तत्पर रहता है। जिनको मार्ग में भ्रम उत्पन्न होगया है उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देता है। संयमियों का संयोग पाकर आनन्द में विभोर होजाता है, और भाग्य को सराहता है कि मैं बड़ा पुण्यवान हूँ जो ऐसे सत्पुरुषों का योग मिला है। सभा मे उनके गुणों की महिमा गाता है। जो उन सत्पुरुषों के गुणों का कीर्तन करते हैं उनकी अनुमोदना ,करता है। उनका प्रतिक्षण स्मरण करता है, ऐसे महाभाग का सत्समागम मुझे कब मिलेगा, इस प्रकार उनके सम्मिलन की उत्कण्ठा रखता है। इत्यादि प्रकार से महापुरुषों की गुण-राशि मे हर्ष प्रकट करने से महान् पुण्य का आस्रव होता है।

जिन्होने असंयम का त्याग किया है, मान–अपमान, लाभ–अलाभ, तृण-कंचन मे समानबुद्धि करली है, इन्द्रिय और मन को अपने वश करलिया है, तीव्रकषाय और विषयों का त्याग किया है, शरीर को नश्वर, धन-वैभव को क्षणभंगुर और दिव्य भोगों को रोग समझकर वैराग्य भावना में अपने को रंगलिया है, संसार समुद्र से भयभीत होकर जो रात्रि मे अल्पनिद्रा लेते और आत्मा की सुख साधना मे सतत सचेत रहते हैं, जो उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों में ऐसे मग्न रहते हैं मानो साक्षात् उत्तम क्षमादि धर्म ही शरीर धारण कर दर्शन दे रहे हों—ऐसे महात्माओं पर उक्त प्रकार से अनुकम्पा करने को धर्मानुकम्पा कहते हैं।

२ मिश्रानुकम्पा—महान् अनर्थ के मूल हिंसा आदि महापातकों का एक देश त्याग कर जो अणुव्रती बने हैं तथा सन्तोषामृत के स्वाद का अनुभव करते हैं तथा वैराग्य भावना से जिनका अन्त-करण ओत-प्रोत है, जो दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डत्याग व्रत इन तीन गुणव्रतों का आचरण कर आत्मा के गुणों का विकास कर रहे हैं, जिनके सेवन से महादोष प्रादुर्भूत होते हैं ऐसे भोग व उपभोग के पदार्थों का जितने त्याग किया है, जो पाप कृत्यो से डरकर नित्यप्रति यथाकाल स्वल्पदेश व किंचित्वस्त्रादि परिग्रह के सिवा अन्य सब पापकृत्यों का तथा परिग्रहादि का त्यागकर सामायिक करते हैं, पर्वदिनों में सब आरंभ का त्यागकर जो उपवास कर धर्मध्यान में समय बिताते हैं, जो अतिथि के आतिथ्य में आदर पूर्वक मन की परिणति लगाकर अपने को अहोभाग्य समझते हैं—ऐसे संयतासंयत (देशव्रती) पर अनुकम्पा करने को मिश्र-अनुकम्पा कहते हैं।

जो प्राणियों पर दया तो करते हैं, किन्तु दया का यथार्थ स्वरूप नहीं समझते हैं, जिनागम से बहिर्भूत अन्य पाखण्डी गुरुओं की सेवा करते हैं, कोमल और कष्टदायक कायक्लेश करते हैं उन पर अनुकम्पा करना भी मिश्रानुकम्पा है। क्योंकि गृहस्थों की धर्म में प्रवृत्ति एक देशरूप है। उनको लौकिक व्यवहार और धर्म व्यवहार उभय का आचरण करना पड़ता है। जिस व्यवहार से सम्यक्त्व की हानि न होती हो ऐसी क्रिया करने में उसे दोष नहीं होता है। इसलिए वह अन्यधर्म के दयालु व दुखी आदि जनों पर और स्वधर्मी गृहस्थादि पर अनुकम्पा करता है। दोनों पर अनुकम्पा करने के कारण उसकी अनुकम्पा को मिश्र–अनुकम्पा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि जो स्वभावतः कोमलचित्त होकर, दयासे आर्द्र हृदय होकर, सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करते हैं, उस दया को सर्वानुकम्पा कहते हैं। जिससे प्रेरित हुआ वह जीव अन्य प्राणियों के दुःख को अपने दुःख समान मानता हुआ उनको सुख पहुंचाने के लिए प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर सतत प्रयत्नशील रहता है, सत्य उपदेश देता है, ऐसी सर्वानुकम्पा भी पुण्यास्रव का कारण होती है।

शुद्धोपयोग के भेद

शुद्धोपयोग अर्थात् शुद्धपरिणाम–दोप्रकार का है। मुनि का शुद्ध परिणाम और गृहस्थ का शुद्धपरिणाम।

मुनि का शुद्धोपयोग–निर्मल व्रतो का धारण, निर्दोषशील का पालन, स्वाध्यायतत्परता और ध्यानादि में लवलीनता ये सब शुद्धोपयोग हैं। उनके आचरण से निज आत्मा का कल्याण और अन्यजीवों का उपकार होता है। इसके विपरीत आचरण करने वाला मुनि अपने धर्म को कलंकित करता है।

सिद्ध, अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय, जिन–प्रतिमा, संघ, जिनधर्म-इन पर भक्ति रखना, विषय से वैराग्य, गुणों पर प्रेम, गुरु आदि का विनय, इन्द्रिय व प्राणिसंयम, प्रमाद का त्याग कर सत्कृत्यों में सावधानता, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि गुणों का धारण, आहारादि चार संज्ञाओं पर विजय, तीन शल्य और तीन गारव का त्याग, उपसर्ग और परिषहों पर विजय, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान की वृद्धि, सराग संयम, धर्म्यध्यान इत्यादि गुणों को धारण कर जिनेन्द्र की भक्ति का उपदेश, निःशङ्कितादि आठ गुण, तपस्याद्वारा कर्मक्षय करने की उत्कृष्ट भावना, पांचसमिति और तीनगुप्ति आदि मुनियों का शुद्ध उपयोग है। यहाँ पर शुद्धोपयोग से निर्मल परिणाम का ग्रहण है जो शुभोपयोग और शुद्धोपयोग रूप होता है।

गृहस्थ का शुद्धोपयोग–जो व्रत धारण किया है उसका पालन करने की उत्कण्ठा रखना, एक क्षण मात्र भी व्रतभंग को अनिष्ट व अकल्याण-कारक समझना। सदा मुनि-समागम की अभिलाषा रखना, श्रद्धापूर्वक यथाविधि मुनि को आहारादि दान करना, विषय भोगों के सेवन को रोगप्रतीकार का कारण समझते हुए उनका त्याग करने में सामर्थ्य न होने पर भी उनकी निन्दा करना और गृहवास त्याग करने की भावना करते रहना, धर्म का श्रवण कर अत्यानन्द से उल्लासित होना, भक्ति से गद्गद हो पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना, वन्दना प्रणाम करना, पूजा करना, अन्यजनों को भी धर्म में लगाना, उनको स्थिर करना, उनके अज्ञानवश व प्रमाद कृत दोषों का उपगूहन करना (ढकना), साधर्मिक पुरुषों पर अतिप्रेम–वात्सल्य रखना, जिनेन्द्र के भक्तों का उपकार करना, जिनशास्त्रों का उद्धार प्रकाशन, पठन एवं पाठन करना, जिनधर्म की प्रभावना करना आदि गृहस्थों के शुद्ध उपयोग हैं अर्थात् निर्मल शुभ परिणाम हैं।

उक्त अनुकम्पा और शुद्धोपयोग के विपरीत परिणामों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है।

संवर—भावना

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो।
इंदिय–कसाय–सण्णा–गारव रागादि आदीणि॥४८॥ (मूला.आ.)

अर्थ—इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा गारव और रागादि- इनसे कर्मों का आस्रव होता है। इन कारणों से निरन्तर आत्मा में कर्मों का आगमन होता है इसलिए इन सम्पूर्ण कर्मास्रव के कारणों को रोकना चाहिए।

भावार्थ—इन्द्रियाँ दुर्दान्त अश्व के समान हैं, ये आत्मा को विषय रूप उत्पथ (कुमार्ग) में लेजाकर नरकादि कुगति रूपी महागर्त (अगाध खड्ढे) में पटकती हैं। अर्थात् आत्मा पंचेन्द्रियों के विषय भोग में लम्पट होकर महान् पाप कर्मों का बन्ध करके, उनका फल भोगने के लिए नरक निगोदादि दुर्गति में जाता है। वहाँ उसे मनसे भी अचिन्त्य दुःख भोगने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनको रोकने के लिए, अपने वश में रखने के लिए ज्ञान और वैराग्य ये दो कारण हैं। जिस प्रकार दुर्दान्त अश्व को अपने वश में रखने के लिए सवार के हाथ में लगाम होती है, उसीसे वह अश्व को अनुचित मार्ग से रोक कर उचित सत्पथ पर ले आता है, उसी प्रकार विषय की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को सन्मार्ग में लाने वाला विवेक-ज्ञान और विषय-वैराग्य हैं। क्योंकि विवेक ज्ञान और विषय–वैराग्य से अन्तःकरण की प्रवृत्ति विषयों से हटती है। उसकी चंचलता दूर होकर एकाग्रता होती है। उसी मनकी एकाग्रता से इन्द्रिय रूपी सर्पों का निग्रह होता है। जिस प्रकार विद्या, मन्त्र और औषधि से रहित मनुष्य में जहरीले सर्पों को वश में करने का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य से जिसका मन वश में नहीं हुआ–है एकाग्र नहीं हुआ है वह विषय–विष के आस्वादन करने में चपल इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर सकता है।

कषाय कर्मों के मूल कारण हैं। उन्हीं से स्थिति और अनुभाग (आत्मा को सुख दुःखादि देने की शक्ति) बंध होता है। अतः कषायों को रोकने पर सब कर्म–आस्रव रुक जाते हैं। अर्थात् योग द्वारा आये हुए कर्म भी कषाय के अभाव में एक समय तक ठहर कर अपने आप निवृत्त हो जाते हैं। अधिक समय तक आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं रखते हैं। तथा एक समय तक भी आत्मा का भला बुरा नहीं कर सकते हैं। अतः कषाय ही आस्रव का द्वार है। जिस प्रकार समुद्र में पड़ी हुई नाव के छिद्र बन्द करने पर उसमें जल नहीं भरता है, वह जल में नहीं डूबती है, उसी प्रकार कर्मों के द्वारभूत कषायों के रोक देने पर आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता है, और आत्मा संसार समुद्र में नहीं डूबती है। आशय यह है कि कषायों के रोकदेने पर मूल से सब आस्रव रुक जाते हैं। यद्यपि योगादि के द्वारा आस्रव होता है, तथापि उससे आत्मा की कुछ हानि नहीं होती।

सं.प्र.

४ विकथा, ४ कषाय ५ इन्द्रियां, १ निद्रा और १ स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से जीवों के निरन्तर कर्मों का आश्रव होता रहता है। इनका निरोध अप्रमाद अवस्था से होता है। जैसे रणांगण में शत्रुओं के शस्त्र प्रहार को शूरवीर पुरुष ढाल से रोकते हैं, वैसे ही कर्मों को पराजित करने के लिए उनसे युद्ध करने वाला शान्त धीर वीर मुनि नवीन कर्म शत्रुओं का आगमन अप्रमाद (स्वाध्याय ध्यानादि) रूपी ढाल के द्वारा रोकता है।

स्वाध्याय और ध्यान में एकाग्रता रूप अप्रमाद (सावधानी) से विकथा-प्रमाद-जन्य कर्मों का आगमन रुक जाता है। क्योंकि-सत्य-भाषा, असत्यमृषाभाषा, स्वाध्याय और ध्यान में चित्त की एकाग्रता ये विकथा-प्रमाद के प्रतिपक्षी हैं।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच (सन्तोष) कषाय-प्रमाद के शत्रु हैं।

ज्ञान का सर्वदा अभ्यास करना, राग द्वेष उत्पन्न करने वाले इन्द्रियों के विषयों से अलग होकर एकान्त प्रदेश में रहना, ज्ञान बल से मन को निज स्वरूप में एकाग्र करना, इन्द्रियों के विषयों का स्मरण न करना, विषयों की प्राप्ति होने पर उनमें आदर न करना, ये सब प्रमाद के विनाशक हैं।

इन्द्रिय के विषयों से विरक्ति

प्रश्न—मुनि इन्द्रियों के विषय प्राप्त होने पर उनमे किस प्रकार अनादर करते हैं ?

उत्तर—मुनि राग भाव से सुन्दर स्त्री के अवयवों पर दृष्टि नहीं डालते हैं। अकस्मात् दृष्टि पड जाने पर राग भाव उत्पन्न नहीं करते और दृष्टि को खींच लेते हैं। द्वेष के वश होकर अशुभ रुप को नहीं देखते और अशुभ रूप दिखलाई देने पर उससे द्वेष नहीं करते हैं। इस प्रकार मुनि नेत्रेन्द्रिय को अपने वश में करते हैं।

उत्तम गायन व कर्णमधुर संगीत की ध्वनि तथा युवती महिलाओं के कोकिल कण्ठ से निकले मधुर मंजुल स्वर सुनने की मुनि अभिलाषा नहीं करते हैं और अचानक सुनाई देने पर उनमें आसक्त नहीं होते हैं। तथा अनेक असुहावने कर्कश कठोर शब्दों को सुनकर क्रोधित नहीं होते, इस प्रकार कर्णेन्द्रिय पर अपना काबू रखते हैं।

जो मुनि, चन्दन, कर्पूर, केसर, चम्पक, गुलाब आदि की मनमोहक सुहावनी गन्ध को सूंघने की उत्कण्ठा नहीं करते तथा अचानक

सुगन्ध घ्राणगोचर हो जाने पर चित्त में अनुराग नहीं करते हैं तथा अत्यन्त अप्रिय दुर्गंध का सम्बन्ध होने पर ग्लानि व द्वेष नहीं करते हैं वे मुनीश्वर घ्राणेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अतिमधुर सुस्वादु भोजन के रसास्वादन में लोलुप नहीं होते हैं, तथा दैवयोग से विशिष्ट स्वादिष्ट रसीले भोजन के प्राप्त होने पर उसका आसक्त भाव से आस्वादन नहीं करते हैं, तथा असुहावने कटु अस्वादु भोजन के रस में द्वेष भाव नहीं करते ऐसे मुनि रसनेन्द्रिय को स्वाधीन करते हैं।

सुन्दर कोमल शय्या, रूपवती स्त्री तथा अन्य सुखदस्पर्श मन का आकर्षण करते हैं। किन्तु जो मुनि विरक्त भावना से भावित होकर उनके सेवन की अभिलाषा तो दूर रही, उनका स्मरण तक नहीं करते हैं, तथा स्वाभाविक सुन्दर स्पर्श का संयोग होने पर उसके सेवन में अनुरक्त नहीं होते हैं, शीतस्पर्श या उष्णस्पर्श वाली भूमि, पर्वतशिला अथवा कठोर तृणादि का स्पर्श होने पर मनमें खेद नहीं करते वे ही स्पर्शनेन्द्रिय के विजयी होते हैं।

जो अनशन, अवमौदर्य रसपरित्याग करते हैं, संसार से भयभीत रहते हैं, रत्नत्रय में अनुराग रखते और अपने दुष्कृतों का स्मरण कर उन पर पश्चात्ताप करते हैं, वे मुनिराज सदा आलस्य का त्याग कर निद्रा को जीतते हैं।

स्नेह का नाश करने के लिये मुनि ऐसा चिन्तन करते हैं कि बन्धुगण आदि सब अस्थिर हैं, स्वार्थ परायण हैं, अपने प्रयोजन की पूर्ति पर्यन्त साथ देने वाले हैं। उनके निमित्त आरंभादि पापकर्म करने की चिन्ता होती है, जो नरकादि दुर्गति में ले जाने वाली है। येही बन्धुगण धर्म से विघ्नबाधा उपस्थित करते हैं, सदा आत्मा को विपरीत मार्ग में लगाने वाले हैं इत्यादि। इस प्रकार अप्रमाद रूप ढाल हाथ में लेकर मुनि प्रमाद शत्रु का मुकाबला करता है। जिस प्रकार किले के द्वार बन्द कर देने पर बाहर से शत्रु का प्रवेश रुक जाता है, उसी प्रकार अप्रमाद के किवाड़ जुड़ देने से आत्मा में कर्मशत्रु का प्रवेश रुक जाता है। जैसे-कोट खाई आदि से सुरक्षित नगर में शत्रु सेना प्रविष्ट नहीं होसकती वैसे ही मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति से सुरक्षित आत्मा में कर्म-शत्रुओं का प्रवेश बंद हो जाता है।

इसलिए उक्त प्रकार से आस्रव के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के विपरीत सम्यक्त्व, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और क्षमा मार्दव आर्जव सन्तोष का अभ्यास करके कर्मों के आस्रव का निरोध करने में सतत उद्यत रहो।

निर्जरानुप्रेक्षा

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।
दुविहा य सावि भणिया देसादो सव्वदो चेव ॥ ५४ ॥ (मूला चा०)

अर्थ—जिसने कर्मागमन द्वार को ढक दिया है, एवं जो तपस्या से युक्त है, उसके कर्मों की निर्जरा होती है। वह दो प्रकार की है–१ एकदेशनिर्जरा और २, सर्वनिर्जरा।

भावार्थ—आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म परमाणुओं के आत्मा से पृथक् होजाने को अर्थात उन कर्म-परमाणुओं में आत्मा को परतन्त्र करने की शक्ति के नष्ट होजाने को निर्जरा कहते हैं।

निर्जरा के भेद और उनका स्वरूप

पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा सा पुणो हवेदुविहा।
पढमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य॥ १८४७॥ (भग–अ०)

अर्थ—पूर्वकाल में किये हुए कर्मों का जीव के प्रदेशों से पृथक् होना निर्जरा है। उसके दो भेद हैं–१ सविपाक निर्जरा और २ अविपाक निर्जरा।

सम्पूर्ण संसारी जीवों के चाहे वह सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि सबके उदय में आये हुए कर्मों की सुख दुःखादि रूप फल देकर जो निर्जरा होती है उसे एकदेश निर्जरा कहते हैं। ।उसीका नाम सविपाक निर्जरा है। और जो तपस्या द्वारा विना फल दिये हुए कर्मों की निर्जरा होती है; अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मों की फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। इसका विशेप विवेचन पहले कर आये हैं।

आम्रादि फल दो तरह से पकते हैं। एक तो समय पर पकते हैं और दूसरे कच्चे फल तोड़कर पाल में पकाये जाते हैं, इसी प्रकार निर्जरा भी दो तरह की होती है। कर्मों की स्थिति पूर्ण हो जाने पर अपना सुख दुःखादि फल (रस) देकर शुष्क हुए कर्म स्वयं झड़जाते हैं—आत्मा से अलग हो जाते हैं वह सविपाक निर्जरा है। उस निर्जरा से आत्माका कुछ भी हित नहीं होता; क्योंकि वह नवीन कर्म को उत्पन्न करके पश्चात होती है। दूसरी अविपाक निर्जरा है। जो संवर पूर्वक तपस्या से कर्मों का रस सुखाकर स्थिति पूरी हुए विना ही कर्मों की निर्जरा होती है, वही आत्मा का हित करने वाली है। इसीसे शनैः शनैः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

संवर रहित निर्जरा से नवीन कर्मों का वन्ध (सम्बन्ध) होता है, जैसे नौका के जल प्रवेश करने के छेद को न बन्द करने से नौका में निरन्तर जल आता रहता है, वैसे ही विना कर्मास्रव का निरोध किये निरन्तर कर्मों का सम्बन्ध होता रहता है। और जब तपरूपी

अग्नि में सुवर्ण रूपी आत्मा को ज्ञानरूपी सुहागा डालकर चारित्र रूपी भस्त्रा (धोकनी) से धमा जाता है तब कषायादि रूप कीट कालिमा नष्ट होती जाती है और सुवर्ण रूपी आत्मा शुद्ध होती जाती है। इस प्रकार होते होते सम्पूर्ण कर्मों की जब निर्जरा हो जाती है, तब यह आत्मा जन्मजरामरणरोगशोकादि बन्धन से विमुक्त होकर अनन्त आनन्द को पाता है। इसलिए इस निर्जरा की निरन्तर आराधना करो जिससे संसार के सब दुःखों से मुक्ति पाकर अविनाशी सुख के अधिकारी बनो।

धर्मानुप्रेक्षा

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया ॥ ६० ॥ (मूला० द्वा०)

अर्थ—सम्पूर्ण जगत् का हितकारक धर्म है-ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है। जिन मनुष्यों ने विशुद्ध अन्तःकरण से उस उत्तमक्षमादि रूप धर्म को धारण किया है-जगत् में वे महात्मा धन्य हैं, कृतार्थ हैं।

धर्म का स्वरूप

संसार की दुःख परम्परा से हटाकर जो निराकुल सुख शान्ति देने वाला है उसे धर्म कहते हैं। धर्म नाम वस्तु के स्वभाव का है। जिस वस्तु का जो वास्तविक स्वभाव होता है वही उसके लिए हितकारी है। जब वस्तु में किसी अन्य पदार्थ का मेल होता है तब वह विकृत और मलीन होजाती है। जैसे पारे के साथ गन्धक का योग होने पर कजली हो जाती है, जो पारे के रङ्ग-रूप आदि गुण की विकृत अवस्था है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव राग द्वेष रहित निराकुल अवस्था है। उसको कर्म के संयोग ने विकृत बनाकर राग द्वेष रूप बना दिया है। इस विकृतावस्था को दूर करने के उपाय को भी धर्म कहते हैं उस उपाय रूप धर्म का नाम चारित्र है। जैसे पारे के साथ गंधक का संयोग होने पर कजली बनती है। पारे की उस विकृत अवस्था को दूर कर पुनः शुद्ध अवस्था में लाने के लिए रासायनिक विधि से अग्नि में तपा कर उसको गन्धक से अलग कर दिया जाता है। तब पारा अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त होजाता है। उसी प्रकार कर्मों के संयोग से उत्पन्न हुई रागद्वेषादि रूप मलीन अवस्था को दूर करने के लिए विवेक ज्ञान रूप रासायनिक विधि से चारित्र रूपी अग्निद्वारा आत्मा को शुद्ध किया जाता है। इसलिए उस शुद्धि के उपाय भूत चारित्र को भी आगम में धर्म कहा है। इस प्रकार वस्तु के स्वभाव को तथा वस्तु को शुद्ध करने वाले-उसके शुद्ध स्वभाव को प्राप्त कराने वाले-उपायों को भी धर्म कहा है। अतः आगम में धर्म के चार लक्षण बताये हैं :—

"धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो ॥"

अर्थात्—१ वस्तु का स्वभाव धर्म है । २ उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म है । ३ महाव्रतादि तेरह प्रकार का मुनि-चारित्र और अणुव्रतादि गृहस्थ चारित्र धर्म है । ४ जीवों की रक्षा करना धर्म है । इनमें से पहला धर्म का मुख्य लक्षण जो वस्तु का स्वभाव है उसी को (आत्मा के स्वभाव को) स्पष्ट करने के लिए क्षमादि को धर्म कहा है । क्योंकि क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौचादि आत्मा के स्वभाव हैं । इसलिए इनका वस्तु-स्वभाव रूप धर्म के मुख्य लक्षण में समावेश होजाता है और जो तीसरा और चौथा धर्म का लक्षण है, दोनों वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति के उपाय हैं । क्योंकि चारित्र का पालन करने से तथा स्वदया और परदया का आचरण करने से आत्मा की व्यावहारिक शुद्धि होती है और धीरे २ आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त करता है ।

इसका आशय यह है कि जिन जिन उपायों से आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की ओर झुकता है, तथा जिनका आचरण-धारण व पालन करने से आत्मा में एकदेश व सर्वदेश निराकुलता की प्राप्ति होती है, उन्हें ही धर्म समझना चाहिए ।

दश लक्षण धर्म

उत्तम क्षमा

यह शरीर मल का घड़ा है । आत्मा का शत्रु है । आत्मा में जितने भी क्रोधादि या राग द्वेषादि शत्रु उत्पन्न होते हैं वे इसी के निमित्त से उत्पन्न होते हैं । देखो जब तुम तप की साधना के लिए परगृह में आहार के लिए जाओ, प्रतिष्ठापनासमिति (मल मूत्र त्याग) के लिए जाओ, आगम की आज्ञा के अनुसार ग्रामान्तर के लिए मार्ग में ईर्या समिति का पालन करते हुए चलो, उपदेश देते होओ, ध्यान-निमग्न होओ या अन्य किसी स्थिति में होओ किसी भी समय कोई भी दुष्ट जीव अपने अशुभ कर्म के प्रेरित हुआ तुम्हें दुर्वचन कहे कि यह अज्ञानी पशु है, दम्भी है, पाखण्डी है, धूर्त है इत्यादि मन में क्षोभ उत्पन्न करने वाले मर्म भेदी कठोर निष्ठुर वचन बोले, तुम्हारी जन समाज के सम्मुख हंसी करे, अपमान और अनादर करे, तुम्हें पीटने लगे और प्राणघात का अवसर भी आवे, तो भी उस समय तुमको विचारना चाहिए कि ये दुर्वचनादि क्या पदार्थ हैं और ये दुर्वचन किसे कह रहा है ? ये वचन तो पुद्गल हैं, इसने क्रोधादि के वश होकर अपनी आत्मा का घात करके कलुषित परिणामों से तथा अपने तालु ओष्ठ आदि के व्यापार से ये वचन उत्पन्न किये हैं । इनका मेरी आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध ? कोई सम्बन्ध नहीं है । मेरी आत्मा अमूर्त्त है और ये पुद्गल हैं । जैसे आकाश में जलती हुई अग्नि आकाश का कुछ भी बिगाड़

नहीं कर सकतो, क्योंकि वह अमूर्त है, उसी प्रकार मेरी अमूर्त आत्मा का ये कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते। आत्मा तो दूर रहा, ये दुर्वचन मेरे इस शरीर का भी कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते। फिर रोष करना कितनी मूर्खता है ? इसने जो दुर्वचन कहे या गाली दी है वह किस को दी है ? इस शरीर को ही तो दी है। मुझे तो इसने देखा ही नहीं। इसकी चर्म-चक्षु मुझे देख नहीं सकती और यदि देख लेती तो यह कभी दुर्वचन नहीं बोलता। इस शरीर को देखकर इसने गाली दी है और यह मेरा नहीं है—इस प्रकार चिन्तन करो।

यदि कोई मारने लगे तो सोचो कि यह किसको मारता है ? मुझ को तो नहीं मार रहा है। मैं तो अजर अमर हूँ। इस शरीर को मारता है, इससे मेरा क्या सम्बन्ध ? यह शरीर तो कर्म-कृत है, मेरा इसमें क्या है ? इस प्रकार विचार करो। यदि तुम उसपर क्रोध करोगे तुम्हारा ही अनिष्ट है। क्रोधी मनुष्य प्रथम अपने आत्मा की हिंसा करता है, अपने शुद्ध स्वभाव का घातकर द्वेष उत्पन्न करता है, अपने ज्ञान गुण का विनाश कर अज्ञानी बनता है। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा तो शान्ति स्वभाव है। यदि तुमने अपने शान्त स्वभाव का नाश कर क्रोध किया तो तुम्हारा जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है। कहीं जल में अग्नि लगते नहीं सुना और नहीं देखा। जिनेन्द्र समान रूप के धारक बनकर यदि तुम क्रोध करोगे तो मुनिपद की अवहेलना होगी। तुम्हारे निमित्त से जिनधर्म कलङ्कित होगा। शूर वीर मुनि की क्षमा ही ढाल है। दुर्वचनादि के प्रहार को क्षमा रूपी ढाल पर झेलने से शत्रु स्वयं हार जावेगा, और तुम्हारी विजय होगी। यदि तुम उसे वास्तव में पराजित करना चाहते हो तो उसका क्रोध शान्त होजाने पर तुम्हारा अपराध न होने पर भी तुम उससे विनीत भाव से क्षमा मांगो और कहो कि हे सज्जन ! तुम मेरे बड़े उपकारी हो। तुमने मुझे अपराध से सचेत किया। तुम्हारे चित्त को मेरे द्वारा बड़ा दुःख हुआ। मैं तुमसे इसकी क्षमा चाहता हूँ। यदि तुम्हारे में उसके प्रति किसी प्रकार के उपकार करने की शक्ति है तो उसका ऐसा उपकार करो कि उस उपकार के भार से वह इतना दब जावे कि जन्म भर तुम्हारे गुण को न भूले। उसका अन्तःकरण अन्दर ही अन्दर तुम्हारे लिए धन्य धन्य की ध्वनि करता रहे। उससे तुम्हारी महिमा की महक अदृश्य संसार में भी महकने लगेगी। जिसके पास क्षमा रूपी शस्त्र है उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

जिसने क्रोध शत्रु को जीत लिया है वही वीर पुरुष क्षमा को धारण कर सकता है। कायर मनुष्य इसे धारण नहीं कर सकता। जिसकी आत्मा बाह्य तुच्छ निमित्तों के संयोग से विकारवान् होती है वह क्रोध शत्रु से लोहा नहीं ले सकता है। उसको परास्त करना साधारण व्यक्ति का काम नहीं है; इसीलिए कहा है 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' क्षमा वीर पुरुष का भूषण है।

क्षमा तभी मानी जाती है जब कि अपराधी के प्रति मन में विकार भाव उत्पन्न न हो। किसी बलवान और समर्थ पुरुष के ऊपर बलहीन असमर्थ मनुष्य का वश न चलने पर वह मन ही मन में क्रोध को दबाये रहता है और ऊपर से क्षमा भाव दिखाता है तो वह क्षमा नहीं है। क्योंकि उसके अन्तःकरण में क्रोध की अग्नि दहक रही है। यदि उसके हृदय में इतनी निर्मलता हो कि उसमें प्रति—

किया (बदला लेने) के भाव न हों और परोक्ष में भी वह उसकी वचनादि द्वारा निन्दा न कर प्रशंसा करे तो उस असमर्थ व्यक्ति के भी क्षमा कही जा सकती है, किन्तु जो समर्थ है और असमर्थ के ऊपर क्रोध न कर उसके प्रति उदार भाव प्रदर्शित करने के लिए उस अशक्त व्यक्ति पर उपकार करने का अवसर ढूंढता है तथा अवसर मिलते ही उसका उपकार करके प्रसन्न होता है वह क्षमा श्लाघनीय है।

प्रश्न—क्षमादि के साथ जो उत्तम शब्द लगा है उसका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ख्याति, सांसारिक लाभ, पूजा, सत्कार आदि की अभिलाषा न रखकर क्षमादि का धारण करना धर्म माना गया है। इस बात को सूचित करने के निमित्त उत्तम शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस क्षमा के धारण से व्रत और शील की रक्षा होती है। क्षमा धारण करने वाले के कोई शत्रु नहीं होता। उसके स्वतः सब मित्र बन जाते हैं। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी दुःख का विनाश होता है। समस्त प्राणी उसका आदर सम्मान करते हैं। उस को अलब्ध वस्तु का लाभ और संसार मे ख्याति होती है। इनके सिवा और भी अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। और क्रोध करता है उसके निकट बन्धु भी शत्रु बन जाते हैं। माता पिता भी क्रोधी पुत्र का संयोग अनिष्ट कारक समझते हैं, धर्मपत्नी भी क्रोधी पति का अनादर करती है, पुत्र उसकी अवहेलना करता है, मित्र सम्बन्ध तोड़ लेते हैं, बिना कारण सारा संसार उसका शत्रु बन जाता है। उसके धर्म, अर्थ काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध-जन्य दोषों का विचार कर क्षमा धारण करना चाहिए।

क्रोध के कारण उपस्थित होने पर आत्मा में विचारना चाहिए कि इसमें मेरा दोष है या नहीं ? यदि मेरा दोष है तो मेरा क्रोध करना निष्कारण है। इसने क्या मिथ्या कहा ? जो मेरे में दोष है, उसका प्रकाशन किया। मैं अपराधी हूं। मुझे अपने अपराध का दण्ड मिलना आवश्यक है। यदि अपना दोष न हो तो ऐसा विचार करे कि कोई मुझे बुरा भला कहे, गाली गलोच दे, या निन्दा करे तो मेरी क्या हानि है ? मैं निर्दोष हूं, मुझे क्या डर है ? इससे मेरी आत्मा को कुछ भी हानि नहीं होती। इसलिए मुझे क्षमा धारण करना चाहिए। यह अज्ञानी है और मैं ज्ञानवान्, चारित्रवान् हूं। यदि मैं भी इसके समान क्रोध करूंगा तो इसमें और मुझमें क्या अन्तर रहेगा ? मैंने वह जगत् पूज्य वेष धारण कर रखा है, जिसकी चक्रवर्ती और देवेन्द्रादि भी पूजा करते हैं। अज्ञानी लोग तो मारने लगजाते हैं। इसने मुझे मारा तो नहीं। दुष्ट जीव मारने भी लग जावें तो सोचे कि इसने मुझे प्राणरहित तो नहीं किया। क्योंकि क्रोधी दुष्ट जीव तो प्राणों का घात तक करते हैं। पुरातन समय में सुकोशल, पंच पाण्डव आदि मुनियों पर कितना भयानक उपसर्ग किया गया था। यदि प्राणों के घात का अवसर आजावे तो विचारे कि कि मेरा अहो भाग्य है कि सावधान अवस्था में मेरी मृत्यु का समय उपस्थित हुआ है। यह शरीर तो अवश्य छूटता, अनेक रोगादि पीड़ित अवस्था में प्राण छूटते तो दुर्ध्यान से मरना होता। यह तो मुझे बड़ा लाभ हुआ जो सावधान और ज्ञानवैराग्य अवस्था में प्राणों का वियोग होता है। इसमें इसका कुछ भी अपराध नहीं है। यह तो निमित्त मात्र है। मैंने पूर्व जन्म में जैसा कर्म उपार्जन

किया उसका फल मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा। यह बेचारा क्या कर सकता है ? प्राण-वियोग अवश्य होता, उसमें यह निमित्त मात्र है । यह नहीं तो दूसरा निमित्त अवश्य मिलता। मुझे इस समय क्षमा धारण करना श्रेयस्कर है। सबसे बड़ा लाभ मुझे यह है कि मेरी आत्मा की निधि जो रत्नत्रय है, वह सुरक्षित है। शरीर तो मेरी वस्तु नहीं है। यह तो कर्म ने दिया था और वह अपनी दी हुई वस्तु लेता है। मेरी वस्तु तो मेरे पास है। उसको कोई छीन नहीं सकता। यदि मैंने इस समय अपनी आत्मा में क्रोध शत्रु को बुलाया तो वह दुष्ट मेरी चिर उपार्जित रत्नत्रय निधि को लूट लेगा और मैं दीन हीन होकर अनन्त काल के लिए दरिद्री बन कर न जाने कौनसी गति में भटकता फिरूंगा । अत एव मुझे माता के समान सर्वदा सुख देने वाली क्षमा का ही आराधन करना चाहिए।

उत्तम मार्दव—

मान कषाय के अभाव से आत्मा में जो विनय (नम्र) भाव उत्पन्न होता है उसे मार्दव गुण कहते हैं। मान दो प्रकार का है— १ शुभ रूप २ अशुभ रूप। जिन कार्यों से आत्मा का पतन होता है, समाज और राज्य में अपमान होता है उन नीच कार्यों को प्राणान्त कष्ट आने पर भी नहीं करना, उसे शुभमान कहते हैं। इसी का नाम स्वाभिमान है। कहा भी हैः—

> अपमानकरं कर्म येन दूरान्निषिध्यते ।
> स उच्चैश्चेतसां मानः परः स्वपरघातकः ॥ ५६ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—उन्नत चित्त वाले मनस्वी मानवों का वह मान प्रशस्त मानागया है, जिस मान से अपमान जनक कृत्यों का दूर से ही त्याग किया जाता है। मैंने उत्तम जाति में जन्म लिया है। प्रशंसनीय कुल और सर्व श्रेष्ठ जिन धर्म को पाया है । क्या अधर्म व धर्महीन मनुष्यों के योग्य कार्यों को करूंगा ? कदापि नहीं। इस प्रकार के स्वाभिमान को प्रशस्त मान माना है। ऐसा मान तब तक उपादेय है, जब तक शुद्ध उपयोग तथा आत्मध्यान में प्रवृत्ति नहीं हो रही है। उस समय तो यह मान भी सर्वथा त्याज है। भाव यह है कि आत्मा की उन्नति के लिए तथा दूसरों को उन्नत मार्ग में प्रवृत कराने के लिए मान पूर्वावस्था में उपादेय हो सकता है। किन्तु जो जाति, कुल, ज्ञान, शरीर, ऐश्वर्य, तपस्या आदि का अभिमान करना अशुभ मान है—सर्वथा उस मान का त्याग करना चाहिए। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा हैः—

> ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः ।
> अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५ ॥ (रत्न करण्ड श्रा०)

मेरी जाति श्रेष्ठ है, मैं उत्तम कुल मे उत्पन्न हुआ हूँ। तू नीच जाति व नीच कुल का है। मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ। मैंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया है-मैं सबसे अधिक ज्ञानवान् हूँ, तुम सब मूर्ख हो। मैं बड़ा भारी ऐश्वर्यवान् हूँ। ये रंक मेरी बराबरी क्या करते हैं ? मैं जगत् में पूज्य हूँ। सब मेरा सत्कार करते हैं। मेरे में इतना सामर्थ्य है कि इन सबको क्षण भर में पीस डालूँ। ये अशक्त मेरी शक्ति को नहीं जानते हैं। इनको मजा चखा दूँगा। मैं बड़ा भारी तपस्वी हूँ। मेरी तपस्या के प्रभाव को ये रंक क्या समझते हैं ? मेरा शरीर बड़ा सुन्दर है,ये सब कुरूप निन्दा के पात्र हैं, इत्यादि प्रकार से कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुए ज्ञान, आदर-सत्कार, कुल,जाति, बल, ऋद्धि (ऐश्वर्य), तप और शरीर का अभिमान करना अशुभमान है। क्योंकि यह अभिमान आत्मा को नीचे गिराने वाला है, इसका सम्बन्ध पुद्गल से है। इसका आश्रय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त तथा क्षणभंगुर है। अपनी (आत्मा की) वस्तु नहीं है दूसरे की (कर्म की) थोड़े काल के लिए धरोहर है। दूसरे की सम्पत्ति से अपने को धनवान समझने वाला जैसे हास्य व निन्दा का पात्र होता है,वैसे ही उक्त जाति आदि वस्तुओं के निमित्त से अभिमान करने वाला हास्य व निन्दा का पात्र होता है।

शङ्का—जाति कुल पूजा (आदर सम्मान), शरीरादि के बल, ऐश्वर्य (वैभव) और शरीर सौन्दर्य का अभिमान करना तो अनुचित है; क्योंकि पुद्गल-जन्य है; किन्तु ज्ञान और तपस्या ये दोनों तो आत्मा से उत्पन्न होने के कारण आत्मा के हैं। और आत्म-गुण का अभिमान करना अप्रशस्त पुण्य कैसे हो सकता है ?

समाधान—जाति आदि की तरह ज्ञान और तपस्या भी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं; इसलिए कर्मजन्य हैं। ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो क्षयोपशमिक मति श्रुतादि ज्ञान होता है, वही मद (गर्व) को उत्पन्न करता है। कर्म के सर्वथा क्षय (अभाव) से उत्पन्न होने वाला तो सिर्फ केवलज्ञान है। केवलज्ञान से गर्व नहीं होता; क्योंकि वह आत्मजन्य है और सर्वथा मान का नाश होने से उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त शेष मत्यादि चारो ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। अर्थात् इन ज्ञानों के साथ कर्म का उदय रहता है; इसलिए ये अभिमान उत्पन्न करते हैं।

इसी प्रकार वही अपूर्ण तपस्या अभिमान पैदा करती है; जिसके साथ मोहनीय कर्म का सम्बन्ध है। मोहनीय कर्म के उदय से ही गर्व उत्पन्न होता है इसलिए क्षायोपशमिक और अपूर्ण तपस्या ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। इसलिए अभिमान को पैदा करते हैं। किन्तु इनका गर्व न करने पर ही आत्मा उन्नत-मार्ग पर लगा रहता है और अभिमान उत्पन्न होते ही उन्नत-मार्ग से गिर जाता है। जैसे ऊपर उछली हुई गेंद अवश्य नीचे गिरती है।

हे आत्मन् ! तू जाति और कुल का क्या अभिमान करता है ? जाति और कुल तेरा स्वरूप नहीं है। अनन्त काल से संसार में

भ्रमण करते हुए तूने अनन्त बार ऐसी जाति और ऐसा कुल पाया है। परन्तु उससे तेरा क्या भला हुआ ? तेरा भला तो इसी में है कि इनका
अभिमान त्याग कर मार्दव धर्म को अङ्गीकार करे। इसके बिना उत्तम जाति और उच्च कुल का पाना निष्फल है। मार्दव (विनय) धारण
करने वाला मनुष्य सबका आदर-सम्मान पाता है। नम्रता से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। कोमल आत्मा में ही जिनधर्म फलता और फूलता
है। मानी का आत्मा कठोर पाषाण के समान होता है। उसमें जिनेन्द्र धर्म का तथा उत्तम गुणों का अंकुर नहीं जमता। विनयवान शिष्य पर
गुरु का, विनीत पुत्र पर पिता का, नम्र भृत्य पर स्वामी का स्वतः अनुराग होता है, और वे गुरु, स्वामी आदि अपने विनीत शिष्यादि की सदा
उन्नति चाहते हैं और उन्हें सदा सुखी रखने में प्रयत्नशील रहते हैं।

जो तूने थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया है वह भी पराश्रित है, तीव्र वेदनीय कर्म के उदय से शरीर के निर्बल होने पर वह लुप्तसा
हो जाता है। केवलज्ञानी और पूर्ण श्रुतज्ञानी के ज्ञान सूर्य के सामने तेरा यह अल्पज्ञान जुगनू के समान भी नहीं है। तू इस पर क्या
इतराता है ? ज्ञान का फल तो चारित्र का आराधन और मोक्ष की प्राप्ति है। इस ज्ञान रूपी रत्न को तू अभिमान रूपी कीचड़ में क्यों फेंक
रहा है। पुण्य-योग से यदि कुछ ज्ञान प्राप्त किया है तो नम्रता धारण कर अपनी आत्मा को सन्मार्ग में लगाने का प्रयत्न कर। यही तेरे
ज्ञान प्राप्त करने का सुफल हो सकता है।

शरीरादि का बल भी क्षण-नश्वर है। शरीर में थोड़ी सी व्याधि के उत्पन्न होते ही यह विलीन हो जाता है। जो पहले बड़े
बलवान पहलवान थे वे शारीरिक व्याधि के उत्पन्न होने पर अतिनिर्बल होते देखे गये हैं। यदि तुमने वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से
शरीरादि की शक्ति पाई है तो उसको ज्ञानाभ्यास, और तप के आचरण में लगाओ, जिससे सदा के लिए सुखी बन जाओ।

राज्यादि के वैभव का अभिमान करना भी महा अज्ञानता है। जो आज राज्य का अधिपति है कल वही प्राणों की भिक्षा
मांगता दिखाई देता है। वह अपने प्राण बचाने में भी असमर्थ होकर इधर उधर छिपता फिरता है। जिस राज्य वैभव पर इतराता था वही
उसके प्राणों का घातक और अतिनिन्दनीय पर्याय में जन्म लेने का कारण बन जाता है। कहा भी है—

क्व मानो नाम संसारे जन्तुव्रजविडम्बके।
यत्र प्राणी नृपो भूत्वा विष्टामध्ये कृमिर्भवेत् ॥ १ ॥ (ज्ञाना०)

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों की विडम्बना करनेवाले इस संसार में मान किस वस्तु का किया जावे ? इस संसार में राजा भी विष्टा
का कीड़ा बन जाता है। अर्थात् जो अभी राजा बना हुआ है वही भविष्य में मरकर विष्टा में कीड़ा उत्पन्न होता देखा जाता है। फिर अभिमान

किस बात का किया जावे ?

जो वैभव इस भव में भी अनेक उपद्रव और पाप का जनक है और परभव में नीच गति का देने वाला है, उसका अभिमान कौन बुद्धिमान करेगा ?

शरीर का सौन्दर्य इन्द्र-धनुष के समान थोडी देर तक टिकने वाला है। जिसका शरीर बाल्यावस्था में अत्यन्त मनोहर था, चेचक आदि फोडा फुंसी के हो जाने से युवावस्था में वही भयानक दिखाई देने लगता है। यह रूप तो रुधिरादि घृणित पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। जो युवती यौवनावस्था में अपने को अप्सरा के समान समझती थी वह वृद्धावस्था में अपने को चुडेल के समान देखकर पश्चाताप करती है। अतःपूर्व कर्म के उदय से यदि तुमने सुन्दर और निरोग शरीर पाया है तो इससे पुण्योपार्जन करना तथा तपश्चरणादि द्वारा कर्मों की निर्जरा कर उसको सफल बनाना चाहिए। जो उस रूप का अभिमान करता है वह अनेक दुष्कृत्यों मे फँस कर अपना नाश करता है। इसलिए रूप का अभिमान आत्मा का अहित करने वाला जानकर उसका त्याग कर मार्दव धर्म धारण करो।

उत्तम आर्जव

माया का त्याग करने से आर्जव गुण उत्पन्न होता है। आर्जव नाम मन, वचन और काय की निष्कपट प्रवृत्ति का है। मायावी-कपटाचारी मन में कुछ और विचारता है, वचन से कुछ और कहता है और शरीर के द्वारा कुछ और ही करता है। महात्मा और दुरात्मा की पहचान करने के लिए कहा है—

"मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १ ॥"

जिनकी मन, वचन और काय की एकसी प्रवृत्ति है, अर्थात् जैसा मन में सोचते विचारते हैं वैसा ही मुख से बोलते और वैसा ही शरीर से करते हैं उन्हें महात्मा कहते हैं। और जो मन में कुछ रखते हैं, मुख से कुछ और कहते हैं और करते कुछ और ही हैं-उनको दुरात्मा (दुर्जन) कहते हैं।

मायाचार रूई से लपेटी हुई अग्नि के समान है। जो थोडी देर तक ही छिपा रहकर बडी तेजी से बाहर प्रकट होता है। छल-कपट से किया हुआ दुष्कृत्य छिपा नहीं रहता। यह तो पानी में दबाये हुए मल के समान अवश्य सबके समक्ष प्रकट हो जाता है, मायाचारी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता। उसका पद पद पर अपमान होता है। उसके परिणाम निरन्तर कलुषित रहते हैं और वह सदा

भय और शंका से व्याकुल रहता है। उसके हृदय में अनेक संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। जिससे सतत अशुभ कर्मों का बन्धन होता है। निगोद उसकी भावी निवास भूमि होती है और इस भव में भी वह सदा दुखी रहता है। जो लोग मायाचार करके थोड़े देर तक अपने मनोरथ को सफल हुआ समझ कर हर्ष मानते हैं वे मूर्ख अमूल्य मानव जन्म को पापरूपी दलदल (की चड) में फेंकते हैं। माया के विषय में कहा है:—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्त्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्त्तो निकृतिः कीर्त्तिता बुधैः ॥ १ ॥ ज्ञाना०

अर्थात्—यह माया अनेक अज्ञानों की जन्म भूमि है। अर्थात् मायाचारी मनुष्य में अनेक खोटी २ बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे वह अपना व दूसरे का नाश करता है। वह अपयश का मन्दिर होता है। और पापरूपी कीचड़ का वह गड्ढा खड़ा होता है। अर्थात् उस की आत्मा में पाप ठसाठस भरजाता है। इसीलिए वह निगोद का पात्र होता है।

मायाचार नाम कुटिलता का है। जिसका आत्मा कुटिल है उसके अन्दर अति सरल जैनधर्म कदापि निवास नहीं कर सकता, जैसे टेढे म्यान के भीतर सीधा खड्ग (खांडा) कभी नहीं जा सकता। जिसका मन आर्जव (सरलता) गुण से युक्त है वह प्रत्येक स्थान पर आदर पाता है। उसका आत्मा सदा प्रसन्न रहता है, उसमे अनेक गुण स्वतः आकर निवास करते हैं और वह प्राणी मात्र का विश्वास-पात्र होता है। इसलिए इस भव और पर भव में दुःख देनेवाली माया (छल-कपट) का त्याग कर आर्जव (सरलता) धर्म को अङ्गीकार करो।

उत्तम शौच

लोभ का परित्याग करने से जो सन्तोष उत्पन्न होता है उसे शौच कहते हैं। संसार में आत्मा का सबसे महान् शत्रु लोभ है। जिसके मन में निर्लोभिता उत्पन्न हो जाती है उसको लोग देवता के समान पूजते हैं, उसपर विश्वास करते हैं, उसकी महिमा संसार में सूर्य के प्रकाश के समान सर्वत्र फैलती है और वह सब गुणों का आश्रय हो जाता है।

लोभ के भेद और उनका स्वरूप

संसार मे लोभ चार प्रकार का होता है—१ जीवित रहने का लोभ २ आरोग्य का लोभ, ३ इन्द्रिय-विषय का लोभ और ४ भोगोपभोग का लोभ। ये चारों स्व और पर के भेद से दो दो प्रकार के हैं—

स्वजीवित लोभ और परजीवित लोभ, स्वआरोग्य लोभ, और परआरोग्य लोभ। स्वइन्द्रियलोभ और परइन्द्रियलोभ। तथा स्व-भोगोपभोग-लोभ और पर-भोगोपभोग-लोभ

१ स्वजीवित व परजीवितलोभ—स्वयं बहुत काल तक जीवित रहने के लिए तथा आत्मीय बन्धु पुत्रादि को जीवित रखने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के अनुचित उपायो का अवलम्बन लेता है। अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण स्वयं करता और करवाता है। मिथ्या दृष्टि कुलिंगी चण्डी-मुण्डी भवानी भैंरूं आदि की आराधना करता है। पशुबलि समान घोर पातक करने में भी नहीं चूकता। अनेक प्रकार के कूट कपट करता है।

स्व-पर-आरोग्य लोभ—अपने को और पुत्र—स्त्री आदि को नीरोग करने के लिए मांस-मदिरा-मिश्रित अशुद्ध औषधियों का स्वयं सेवन करता और पुत्रादि को भी करवाता है। उसका भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का विवेक-ज्ञान नष्ट हो जाता है। रात्रि-भोजन आदि पापाचार करता है और लोकनिन्दा का तथा पर लोक का भय लुप्त हो जाता है। क्या अधर्मपूर्ण आचरण करने से वह या उसके इष्ट—कुटुम्बी चिर-काल तक जीवित और नीरोग रह जायेंगे ? यह उसके अज्ञान और मोह का माहात्म्य है जो इस नर भव समान कल्पवृक्ष को अनुचित लोभ के वश होकर भस्म के निमित्त जलाता है। जीवन और आरोग्य के लिए उचित धर्मयुक्त उपायों का आश्रय लेना तो आवश्यक है। इसके विपरीत मार्ग का आश्रय लेना इस भव और परभव को बिगाड कर परम्परा नरकादि गति का देने वाला है। ऐसा समझकर इस अनुचित लोभ का त्याग करना चाहिए।

स्व–इन्द्रिय विषय व पर-इन्द्रिय-विषय का लोभ—इन्द्रिय-विषय के वशीभूत हुए प्राणी संसार में दुःख ज्वाला मे निरन्तर जल रहे हैं। विषय-लोभ मे अन्धे होकर अपने प्राणों तक की आहुति दे रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वश हाथी गर्त में गिर कर बधबन्धादि अनेक कष्टों को सहता है। रसना-इन्द्रिय के वश मछली जल मे कांटे से अपना गला छिदाती है। घ्राण-इन्द्रिय के वश भ्रमर कमल में बन्द होकर मृत्यु का शिकार होता है। चक्षुइन्द्रिय के लोभ से पतङ्ग (कीड़ा) दीपक मे गिर कर अपनी आहुति देता है। श्रोत्रन्द्रिय के अधीन हुआ हिरन बहेलिया के जाल मे फंसता है। तात्पर्य यह है कि एक एक इन्द्रिय के विषय के लोलुपी प्राणी अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। तो फिर यह मानवपशु पांचों इन्द्रियो के विषय की लालसा से ललचाकर किस सुख की इच्छा रखता है ? यह समझ में नहीं आता। हे आत्मन्! इन इन्द्रियों की प्राप्ति पूर्वजन्म कृत कठोर तपस्या से हुई है। इसलिए विषय—विष का भक्षण करके इनका विघात मत करो। अन्यथा भवभव मे इनके लिए तरसते रहोगे और निगोद में या नरक मे संख्यातीत काल तक, अचेत अवस्था मे या घोर संतापशील अवस्था में पड़े हुए अनन्त दुःख सहोगे।

ज्यों ज्यों ये इन्द्रियां मद की उत्कटता को धारण करती हैं त्यों त्यों मनुष्यों के कषाय रूप अग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है। अतः ज्ञान और वैराग्य भावना से कषाय अग्नि का शमन कर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो।

इन इन्द्रियों को लुटेरों व डाकुओं की सेना समझो क्योंकि ये तुम्हारे अन्तःकरण रूपी किले के भीतर सुरक्षित विवेक रूप रत्न को लूटती हैं।

इन्द्रिय विषयों से ठगे हुए मनुष्य की विषय-तृष्णा बढ़जाती है, सन्तोष नष्ट हो जाता है और विवेक विलीन हो जाता है।

विषयों को हालाहल विष से भी बहुत अधिक समझो। इनमें मेरु और सरसों का सा अन्तर है। कालकूट (विष) तो एक पर्याय का घातक है; अतः सरसों के सदृश है और विषय अनन्त भवों में आत्मा का विनाश करने वाला है अतः यह मेरु के समान है। इसलिए जो तुम्हें इनमें अपनी आत्मा की रक्षा करना है तो सत्संगति में रहकर विवेक-ज्ञान द्वारा परपदार्थ के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करो। लोभ को सीमित कर शनैः शनैः इसका अभाव करो। जब तक आत्मा में पर पदार्थ का लोभ रहता है, सन्तोष नहीं होता और सन्तोष के अभाव से मन बाहर भटकता फिरता है।

संसार में जितने भी अत्याचार अन्याय आदि महापातक होते हैं उनका मुख्य कारण लोभ है। इसलिए विषयादि के लोभ का त्याग कर ज्ञानोपार्जन का व शीलादि गुणों का लोभ करो जिससे तुम्हारी आत्मा इस मनुष्य जन्म में भी आनन्द का अनुभव करे और परभव में कैवल्यादि विभूति का भोगने वाला बने।

उत्तम सत्य

प्राणियों को पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन न बोलना तथा स्व और पर के लिए हितकारक, प्रिय और परिमित वचन का उच्चारण करना ही सत्य है।

असत्पुरुषों के सामने मौन धारण करना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि आचार्यों ने प्रशस्त (सज्जन) पुरुषों के मध्य साधु (उत्तम) वचन बोलने को सत्य कहा है। इसका आशय यह है कि ध्यानादि कर्त्तव्य में जब चित्त ऊब जाता है—थक जाता है, उस समय यदि उपदेशादि के लिए वचनोच्चारण करना पड़े तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मेरा बोलना इस समय उपयुक्त है या नहीं? जन समाज कैसी प्रकृति वाला है। शान्तस्वभाव है या उग्रस्वभाव। शान्तस्वभाव जनसमूह में वचनोच्चारण करना—धर्म का व्याख्यानादि करना स्वपर का कल्याण करने वाला होता है और जो उग्रस्वभाव जन समूह हो तो मौन धारण करलेना अथवा अपने निज कार्य स्वाध्यायादि में लग जाना चाहिए। अन्यथा सदुपदेश का भी दुरुपयोग होजाता है और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

सं. प्र. | पू. कि. ४

आचार्यों ने सत्य के दश भेद कहे हैं–१ नामसत्य, २ रूपसत्य, ३ स्थापनासत्य, ४ प्रतीत्यसत्य, ५ संवृत्तिसत्य, ६ संयोजना-सत्य, ७ जनपद सत्य, ८ देशसत्य ९ भावसत्य, १० और समयसत्य। इनका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है।

उक्त सत्य के भेदों को जानकर उनके अनुकूल वचन का उच्चारण करना सत्य है।

सत्य वचन बोलनेवाला मनुष्य संसार मे पूज्य माना जाता है। उसपर शत्रु भी विश्वास करता है। प्राणीमात्र उसका आश्रय लेते हैं। मनुष्य जीवन की उत्कृष्टता सत्य वचन से ही मानी गई है। इसलिए जो वचन बोलने की शक्ति इस मनुष्य भव में प्राप्त हुई है उसको कटु कठोर तथा अधम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य निन्द्य वचन बोलकर मत खोवो। सत्य होने पर भी वचन से दूसरे का चित्त पीड़ित हो ऐसे वचन को भी आगम मे असत्य माना है। जो मनुष्य लोभादि के वश असत्य बोलता है उससे उसका स्वार्थ भी बिगड़ जाता है और और वह लोक मे निन्दा का पात्र होता है। उसका बड़प्पन क्षणभर में मिट्टी में मिल जाता है। उसकी प्रतिष्ठा चरणोंपर लोटती है। उसकी पूज्यता पैरो से ठुकराई जाती है और वह सब के लिए भयानक जन्तु बन जाता है।

अन्य दुर्गुणों से दूसरे मनुष्यों का उतना अकल्याण नहीं होता, जितना कि असत्य वचन से होता है। इसी असत्य वचन से संसार मे मिथ्या शास्त्रों का प्रचार हुआ है। तीनसौ तिरेसठ पाखंड की प्रवृत्ति इस असत्यवचन द्वारा ही हुई है; जिसके कि जाल में फँसे असंख्य प्राणी हिंसादि घोर पापों का आचरण कर रहे हैं।

नरसंहार करनेवाले संग्राम इस असत्य वचन से ही प्रारम्भ होते हैं। यदि मनुष्य शान्तचित्त होकर पूर्वापर हिताहित का विचार कर वचन निकाला करे; प्रिय, मधुर और स्वपर-हितकारक वचन बोला करे तो यह मर्त्यलोक स्वर्ग समान बन जावे।

असत्य वचन बोलने मे तो आत्मा के स्वाभाविक भावों को दबाने मे बडी शक्ति लगानी पड़ती है, आत्मा कुंठित होता है, और सत्य वचन उच्चारण करने में आत्मा को आह्लाद होता है। उसका प्रभाव सब सुननेवाले जीवों पर स्वतः विदित हो जाता है। असत्य भाषी स्व और पर की हिंसा करता है। क्योंकि वह असत्य भाषण कर अपने सच्चे निराकुल भाव की हिंसा करता है और असत्य से सुनने वालो के चित्त मे गहरी चोट लगती है। उनका हृदय विदीर्ण हो जाता है। इसलिए असत्यभाषी आत्मघाती और परघाती मानागया है। इसलिए जब सत्य वचनामृत से अपनी व दूसरे की आत्मा को आनन्द मिलता है और उसके लिए कुछ कष्ट भी नहीं होता तो इस अमूल्य अमृत का आस्वादन क्यों नहीं करते ? इस सत्य के आधार पर सब संसार के कार्य होते हैं; इसलिए सत्य के आश्रित सारा संसार ठहरा है, ऐसा कहाजाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। सत्य ही जीवन का आधार है और संसार के सब कर्त्तव्यों का मुख्य साधन है। इसलिए वचन बोलते समय पूर्ण सावधानी रखना योग्य है।

उत्तम संयम

षट्काय के जीवों का रक्षण और पाँचों इन्द्रिय और मन का निग्रह करना संयम कहलाता है। लोभादि के वश विषय और कषाय में भटकते हुए मन रूपी मातङ्ग (हाथी) को वश में करने के लिए यह संयम अंकुश के समान है। अथवा कुमार्ग में गमन करते हुए इन्द्रिय रूपी घोड़ों के लगाम के समान है—क्योंकि मन और इन्द्रिय को रोकने का नाम संयम है। इसका पालन करने से इन्द्रिय और मन का प्रचार रुककर आत्मा में स्थिरता आती है।

संयम के भेद और उनका स्वरूप

संयम दो प्रकार का है—१ उपेक्षा-संयम और २ अपहृत-संयम।

(१) उपेक्षा-संयम—देश काल-विधि के ज्ञाता उत्कृष्ट शरीर वाले, मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग का निग्रह कर तीन गुप्ति के धारण करनेवाले महामुनि के जो राग-द्वेष का अभाव होता है, उसे उपेक्षा-संयम कहते हैं।

(२) अपहृत-संयम—पाँच समिति का आचरण करने से अपहृत संयम होता है। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समिति हैं। इनका विवेचन पहले कर आये हैं, वहाँ से जान लेना चाहिये।

इन ईर्यादि पांच समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार होता है। अर्थात् पृथिवी-कायादि पांच स्थावर और त्रसकाय के जीवों की रक्षा और इन्द्रियों का निग्रह होता है। इसीको अपहृत संयम कहते हैं।

वह अपहृत संयम तीन प्रकार का है—१ उत्कृष्ट, २ मध्यम और ३ जघन्य। जिनके प्रासुक वसतिका और आहार ये दोनों ही बाह्य साधन हैं, तथा ज्ञान और चारित्र किया जिनके पराधीन है, तथा बाहर के जन्तुओं की रक्षा का उपनिपात (संयोग) होने पर वसतिका आदि का त्याग कर जन्तुओं की रक्षा करने वाले मुनि के उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। अर्थात् वसतिका आदि में जन्तुओं का संसर्ग हो जाने पर उन जन्तुओं को न हटाकर जो मुनि स्वयं उस वसतिका आदि का त्याग कर देते हैं, उनके उत्कृष्ट अपहृत-संयम होता है। कोमल पिच्छिका से उन जन्तुओं प्रमार्जन करनेवाले मुनि के मध्यम अपहृत-संयम होता है। अन्य पुस्तकादि उपकरणों की इच्छा रखने वाले मुनि के जघन्य अपहृत-संयम है।

उस अपहृत-संयम का प्रतिपालन करने के लिए अभावशुद्धि आदि आठ शुद्धियाँ आवश्यक मानी गई हैं, उनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

संयमी का निवास

संयमी का निवास तीन प्रकार का होता है। १ स्थान, २ आसन और ३ शयन।

(१) स्थान—दोनों पाँवों को चार अंगुल के अन्तर पर स्थापन कर ऊपर, नीचा अथवा तिरछा मुख किये हुए जिसमें अपना भाव लगा रहे, अपने बल व वीर्य के अनुसार कर्मक्षय करने के निमित्त संक्लेश परिणाम रहित होकर जो खड़ा रहता है उसे स्थान कहते हैं।

(२) आसन—यदि खड़ा न रह सके और खड़े रहने की प्रतिज्ञा न की हो तो पर्यंक (पालथी मांडकर बैठना) आदि आसन लगाकर बैठ जाये उसे आसन कहते हैं।

(३) शयन—यदि बहुत काल तक स्थान-आसन से खेद खिन्न(परिश्रम से थकना) हो जावे तो मुनि अपनी भुजा का तकिया बनाकर एक पसवाड़े अंग सुकोड़ कर अल्पकाल पर्यन्त श्रम दूर करने के निमित्त शयन करे—इसको शयन कहते हैं।

साक्षात् मोक्ष के कारण भूत संयम के पांच भेद हैं–१ सामायिक, २ छेदोपस्थान, ३ परिहारविशुद्धि, ४ सूक्ष्मसाम्पराय, ५ और यथाख्यात चारित्र। इनका स्वरूप पहले कह आये हैं।

उत्तम तप

कर्म का क्षय करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर रूप से जो तपा जाता है उसे तप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। इन दोनों के छह भेद हैं। उनका विशद विवेचन तप आराधना में कर आये हैं। अभ्रावकाशयोग वृक्षमूलयोग और वर्षायोग इस प्रकार-तीन योग को तप के अन्तर्गत समझना चाहिए। इनका वर्णन भी पूर्व कर आये हैं।

उत्तम त्याग

चेतन व अचेतन दश प्रकार के परिग्रह के तथा मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के परिग्रह के उत्सर्ग करने (छोड़ने) को त्याग कहते हैं।

उत्तम आकिञ्चन्य

मेरा संसार में कोई नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है, अन्य पुत्र स्त्री आदि मेरे कैसे हो सकते हैं? मैं यहां पर अकेला ही आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा। आत्मा के सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मेरे हैं। ये ही मेरे साथ परभव में जाने वाले हैं। इस प्रकार अकिंचन भाव का चिन्तन करने से आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है।

उत्तम ब्रह्मचर्य

(१०) ब्रह्म (आत्मा) में चर्या करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह निश्चय ब्रह्मचर्य है। सम्पूर्ण स्त्रियों का त्याग

करना व्यवहार ब्रह्मचर्य है। स्त्रीमात्र के साथ रागद्वेष सम्बन्ध का त्याग करने से आत्मा अपने स्वरूप में रमण करती है इसलिए मुख्य ब्रह्मचर्य के साधन को भी ब्रह्मचर्य कहा है। इसका विशद विवेचन ब्रह्मचर्य महाव्रत में किया जा चुका है।

बोधि दुर्लभ भावना

हे आत्मन्! बोधि (सम्यक्त्व अथवा दीक्षा धारण करने की बुद्धि) का मिलना अति दुर्लभ है। तुमने अनन्त काल तो निगोद में निवास किया है। क्योंकि सम्पूर्ण संसार निगोद जीवों से भरा हुआ है। जीव का चिर निवासस्थान निगोद है। उससे निकल कर पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करना भी अति कठिन है। उससे निकल कर त्रसपर्याय प्राप्त करना बालू के समुद्र में खोई हुई हीरे की कणी के समान दुष्प्राप्य है। त्रस में विकलेन्द्रिय जीवों में जन्म हुआ तो किस काम का? उससे निकलकर पंचेन्द्रिय पर्याय मिलना दुष्कर है। पंचेन्द्रिय मे पशु पक्षी आदि तिर्यंचों मे उत्पन्न हुए तो वहाँ पर हित अहित का विचार न होने से बोधि की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य होकर भी यदि नीच जाति, नीच कुल, म्लेच्छ क्षेत्रादि में जन्म हुआ तो वह मनुष्य जन्म भी निरर्थक है। तुम्हें सब योग मिलगया है। उत्तम कुल, जाति, निरोग शरीर, जैन-धर्म का शरण, सत्संगति आदि आत्म-कल्याण का सब योग प्राप्त हुआ है। यदि अब भी बोधि की प्राप्ति नहीं की तो अधिक से अधिक पूर्व कोटि पृथक्त्व सहित दो हजार सागर तक त्रस पर्याय में रहकर तुमको पुनः निगोद का शरण लेना पड़ेगा।

यह बोधि संसार में सब से श्रेष्ठ है। देखो! तीर्थंकर प्रकृति का उदय भी बोधि के प्राप्त हुए बिना नहीं होता है। तथा तीर्थंकर जब बोधि दुर्लभ भावना का चिन्तन करते हैं, तब ही लोकान्तिक देव आते हैं, गर्भादिक कल्याण में नहीं आते, इसलिए स्पष्ट है कि बोधि संसार में सर्वोत्कृष्ट है। अतः इसको हाथ से मत जाने दो।

मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है?

संसारम्हि अणंते जीवाणं दुल्लहं मणुस्सत्तम्।
जुगसमिलासंजोगो लवणसमुद्दे जहा चेव ॥ ६५ ॥ (मूला. द्वा.)

अर्थ—लवण समुद्र की पूर्व दिशा मे युग (जूला-जूड़ा) डाला, और पश्चिम दिशा में डाली समिला (जूडे की कील)। उस कीला का जूडे के छेद मे आकर प्रविष्ट होना जैसे अति दुर्लभ है, वैसे ही इस अनन्त संसार में चौरासी लाख योनियों के मध्य मनुष्य पर्याय का मिलना अति दुर्लभ है।

भावार्थ—मोहनीय कर्म रूपी पिशाच के वशीभूत हुआ यह जीव सद्गुरुओं के सदुपदेश को कानों में सुनकर भी हृदय में धारण नहीं करता है। जिसके संसार का अन्त सन्निकट है उसी निकट भव्य का मन बोधि की दुर्लभता को समझकर उसका आराधन करता है,

वही मनुष्य पर्याय ी दुष्करता को समझता है। उसके चित्त में देश, कुल, निरोगता आयु तथा, शारीरिक-सामर्थ्य का सदुपयोग करने की उत्कण्ठा जागृत होती है। प्राप्त हुए दिव्य जैन धर्म के असली स्वरूप का रहस्य उसी के अन्तःकरण में झलकता है। सत्पुरुषों के सत्संगरूप कल्पवृक्ष का लाभ वही लेता है। जिनागम के अमृत समान एक एक वचन को कर्णपुट द्वारा पान कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। इस नश्वर शरीर से अविनश्वर पद देने वाली बोधि की प्राप्ति करने में ही अपना कल्याण मानकर इसके पालन में निरत हो जाता है। क्योंकि संसार के सब पदार्थ आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते हैं। वे जड स्वरूप है और आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं। आत्मा के बन्धन को खोलने वाली एक 'बोधि' है।

जिसको रत्नत्रय में अनुराग होता है, सम्यग्दर्शन की जिसको प्राप्ति होगई है, वह जीव अर्धपुद्गल काल के अन्दर मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखता है। लेकिन जब तक वह चारित्र का अनुष्ठान नहीं करेगा उसको सिद्धस्थान प्राप्त होना दुर्लभ है। अतः चारित्र को पूज्य कहा है। चारित्र का धारक पूजा के योग्य माना है। अतः हे आत्मन्! जो तुमको ऐसे सर्वोत्कृष्ट पूज्य पद को प्राप्त करना है तो इस पूज्यता की कारण भूत चिन्तामणि रत्न के समान 'बोधि' को यदि पाकर तुमने खो दिया तो अनन्त काल के लिए दरिद्री बन जाओगे और दारिद्र्य का अनुभव करने के लिए निगोदादि पर्याय में जा-पहुचोगे; इसलिए पूर्ण सावधानी से इसका पालन करो।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति रूप बोधि तथा मुनि दीक्षा धारण करने की बुद्धि-रूप बोधि संसार में अति दुर्लभ है। ऐसा समझकर जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध करके श्रद्धान करो तथा दीक्षा धारण करने के परिणाम को अति दुर्लभ समझो। उसकी प्राप्ति होना सुलभ नहीं है। कर्म के क्षयोपशमादि से यदि वह प्राप्त हो जावे तो चिंतामणिरत्न से अनन्त गुणा श्रेष्ठ समझकर उसे हाथ से मत जाने दो। जिन्होंने अचिन्त्यपद तथा सिद्धपद प्राप्त किया है, वह सब इसी बोधि का माहात्म्य है।

इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओ का जीवन में उतारते रहने से आत्मा में दृढ़ सस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से संस्कृत हुई आत्मा धर्म से कभी नहीं डिगती है। क्रमशः कर्मों का क्षय करके निर्मल बन जाती है—विमल (मोक्ष) पद को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती है।

अथ अनगार-भावना अधिकार

द्वादश भावनाओं के वर्णन के बाद अब अनगार भावनाधिकार का प्रारंभ किया जाता है। यद्यपि इस प्रकरण की बहुत सी बातों का वर्णन यथावसर पहले किया चुका है फिर भी उन पर विशेष प्रकाश डालना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। क्योंकि मुनिधर्म में लिंग-शुद्धि आदि दश शुद्धियों का प्रकरण बड़े महत्व का है। इसे समझे बिना किसी की मुनि धर्म में स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए मुनि-पद को विशुद्ध बनाने के लिए आगे कही जाने वाली शुद्धियों का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए और उनकी उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिए। अनगार-भावना के दश अधिकार हैं।

लिंगं वदं च सुद्धी वसदि विहारं च भिक्खणाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं ॥ ३ ॥
एदमणयारसुत्तं दसविधपद विणयअत्थसंजुत्तं।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं ॥ ४ ॥ (मू. अ. भा.)

अर्थ—इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी जिनके चरणारविन्द की पूजा करके अपना अहोभाग्य मानते हैं-अपने को कृतार्थ समझते हैं-ऐसे गृहत्यागी वैराग्य की मूर्ति अनगार के योग्य कर्त्तव्यों को दश पदों में विभाजित किया है।

(१) लिंगशुद्धि, (२) व्रतशुद्धि, (३) वसतिशुद्धि, (४) विहारशुद्धि, (५) भिक्षाशुद्धि, (६) ज्ञानशुद्धि, (७) उज्झन शुद्धि, (८) वाक्यशुद्धि, (९) तपशुद्धि, (१०) ध्यानशुद्धि। ये दश प्रकार के कर्त्तव्य का निरूपण करने वाले दश अधिकार पद सर्व सुन्दर आचार सिद्धान्त के अर्थ का तथा मुनि-शिक्षा का प्रतिपादन करने वाले हैं। जो इनका भक्ति पूर्वक पठन-पाठन करता है उसके पापमल का प्रक्षालन होता है।

(१) लिंगशुद्धि-अधिकार

चलचवलज विदामणं णाऊण माणुसत्तणमसारं।
णिव्विण्णकामभोगा धम्मम्मि उवट्ठिदमदीया ॥ ७ ॥ (मू. अ. भा.)

अर्थ—यह मानव जीवन अस्थिर व विद्युत (बिजली) के चमत्कार के समान विनश्वर है। इसमें कुछ भी सार तत्त्व नहीं है।

प्रतिसमय इसका नाश हो रहा है, न जाने किस समय इसका सर्वथा क्षय जावे। अभीष्ट पदार्थ की कामना, स्त्री आदि उपभोग सामग्री आत्मा को व्याकुल करने वाली है, ताम्बूल कुंकुम पुष्पादि के समान एक बार सेवन करने के पश्चात् उच्छिष्ट हुई पुनः सेवन करने योग्य नहीं है। इस प्रकार काम भोग से विरक्त होकर निर्ग्रन्थ लिंग धारण करने की बुद्धि करो।

भावार्थ—काम भोग की निःसारता और असेव्यता को समझकर इनसे विरक्त चित्त हुआ विवेकी मनुष्य अपने चञ्चल और विनश्वर जीवन को शीघ्र सफल बनाने को उत्सुक हुआ संसार से भयभीत होकर आचार्य के चरण की शरण ले और गद्गदकण्ठ हो प्रार्थना करे कि भगवन्! इस संसार सागर से उद्धार करने की कृपा करो। मुझे अपने आत्मा का कल्याण करने के लिए शुद्ध-लिंग–दिगम्बर मुनिवेष–की दीक्षा प्रदान करो।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर आचार्य निम्नोक्त बातों का पूर्ण विचार करे। दीक्षा के योग्य जो व्यक्ति हो, उसके गुणादि की परीक्षा करके पश्चात दीक्षा दे।

दीक्षा-योग्य पात्र

(१) जिसने उत्तम देश में जन्म लिया हो, उसे ही दीक्षा दे; क्योंकि देश के संस्कार आत्मा में स्थायी रहते हैं और देश के अनुकूल शरीर संस्थान आत्मपरिणाम, सहनशीलता आदि होते हैं। इसलिए जन्म व निवास का देश शुद्ध होना चाहिए।

(२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन उत्तम वर्ण ही मुनि दीक्षा के योग्य माने गये हैं। श्री जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की टीका मे कहा है—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥१०॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में से ही कोई मुनि–दीक्षा का अधिकारी होता है। इनमें से भी वही योग्य मानागया है जिसका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा हो, तप के योग्य जिनकी वय हो, अर्थात् अतिवृद्ध और बालक न हो। जिसका मुख विकारहीन हो अर्थात् निर्विकार शुद्धचैतन्य परिणाम की शुद्धि को प्रकट करने वाला प्रफुल्लित मुख जिसका हो। अथवा जिसके मुख में वक्रतादि न हो। लोक में जिसे किसी प्रकार के दुराचार आदि के कारण अपवाद न लगा हो। ऐसा क्रोधादि रहित विनयगुण सहित ही मुनि दीक्षा के योग्य माना गया है।

(३) मुखादि विकार न हो। हीनांग न हो, और अधिकांग भी न हो।

(४) जिसने राज्य विरुद्ध कार्य न किया हो। अन्यथा संघ पर आपत्ति विपत्ति आने की सम्भावना रहती है।

(५) जिसने लोकाचार के विरुद्ध आचरण न किया हो, दुराचारादि के कारण जिसका संसार में अपवाद न हो।

भाव यह है कि यदि कोई दुराचारी, चोर, क्रूर-परस्त्रीगामी, निर्दयी, पर-उच्छिष्ट का भक्षण करने वाला, आवारा फिरने वाला, अधम व्यापार करने वाला, निन्दनीय आजीविका करनेवाला, परधन को हड़पनेवाला, ऋणी, हत्यारा, जातिच्युत, वर्णसंकर, उन्मत्त, अतिक्रोधी, मानी, मायाचारी, राजा देश जाति व कुल का अपराधी या ऐसे ही अन्य दोषों से युक्त हो तो आचार्य उसे दीक्षा न दे।

भगवती आराधना की ७७ वी गाथा की अपराजित सूरिकृत–विजयाटीका और पण्डित आशाधरजी कृत मूलाराधना टीका इन दोनों संस्कृत टीकाओं में बाह्य लिंग-शुद्धि अत्यावश्यक बताई गई है—

जिसका पुरुष चिन्ह मुनि दीक्षा के योग्य हो अर्थात लिंग (पुरुषचिन्ह) का अग्रभाग चर्म से ढका हो, (यदि चर्म रहित (उघाड़ा) हो तो दीक्षा के अयोग्य है), अतिदीर्घ व स्थूल न हो और जिसमें विकार भाव उत्पन्न न होता हो तथा अंडकोष बड़े न हों। यदि इन दोषों से युक्त हो तो वह व्यक्ति दिगम्बर दीक्षा के सर्वथा अयोग्य होता है। जो आचार्य इन उक्त लिंग-दोषों की ओर ध्यान न देकर दीक्षा देता है, तथा उक्त दोषों में से किसी भी दोष सहित जो व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करता है वे दोनों जिनागम-विरुद्ध आचरण करने वाले हैं और मुनि धर्म की जगत् में निन्दा कराने के कारण होते हैं।

प्रवचनसार की टीका पर में आचार्य जयसेन लिखते हैं—"यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि" इसका आशय ऐसा समझना चाहिए कि सत् शूद्रादि मुनि–दीक्षा के योग्य न होने पर भी उनको आगम के अनुकूल क्षुल्लकादि दीक्षा दी जाती है। 'यथायोग्य' पद से उक्त अर्थ ही ध्वनित होता है।

इसी प्रकार पं. आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा—

> शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
> जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

अर्थ—वर्ण से हीन शूद्र का यदि रहन–सहन शुद्ध है, वह मद्य मांसादि का भक्षण नहीं करता है तथा स्नानादि से शरीर वस्त्रादि को पवित्र रखता है तो वह भी जिन धर्म के श्रवण करने का अधिकारी है। क्योंकि जातिसे हीन जीव भी कालादि लब्धि के आनेपर

श्रावक धर्म का धारण करने वाला होता है।

सत् शूद्र ऐल्लक दीक्षा के योग्य भी नहीं माना गया है क्योंकि जो उत्तम आर्य है वही ऐल्लक हो सकता है। शूद्र उत्तम आर्य न होने स ऐल्लक दीक्षा का अधिकारी नहीं होता है तब उसमे मुनि दीक्षा की योग्यता कैसे हो सकती है? धर्मसंग्रह श्रावकाचार के नवें अधिकार में कहा है—

पशुपाल्यात् कृषेः शिल्पाद्वृत्त न्ते तेषु केचन ।
शुश्रूषन्ते त्रिवर्णी ये भाण्डभूषाम्बरादिभिः ॥ २३२ ॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों में कई तो पशुपालन से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, कई कृषि से अपनी जीविका करते हैं और कई शिल्पविद्या से अपना भरणपोषण करते हैं। जो उक्त तीनों वर्णों के मनुष्यों की वर्त्तन, भूषण और वस्त्रादि से सेवा करते हैं, वे शूद्र हैं। शूद्रों के भेद इस प्रकार किये गये है—

शूद्रों के भेद

ते सच्छूद्रा असच्छूद्रा द्विधा शूद्राः प्रकीर्त्तिताः ।
येषां सकृद्विवाहोऽस्ति ते चाद्याः परथा परे ॥ २३२ ॥ धर्म. श्रा.

अर्थ—उन शूद्रों के सत् शूद्र और असत् शूद्र इस प्रकार दो भेद हैं। जिन शूद्रों के स्त्रियों का एक बार ही विवाह होता है वे सत् शूद्र हैं और जिनके पुनर्विवाह (विधवा विवाह—धरेजा) होता है उन्हें असत् शूद्र कहते हैं। तथा—

सच्छूदा अपि स्वाधीनाः पराधीना अपि द्विधा ।
दासीदासाः पराधीनाः स्वाधीनाः स्वोपजीविनः ॥ २३४ ॥ धर्म. श्रा.

अर्थ—सत् शूद्रों के भी स्वाधीन और पराधीन के भेद से दो विकल्प हैं। जो दासी व दास हैं वे पराधीन सत् शूद्र हैं और जो दास वृत्ति न करके अन्य प्रकार से स्वतन्त्र आजीवका करके अपना निर्वाह करते हैं वे स्वाधीन सत् शूद्र हैं।

निष्कर्ष यह है कि सत् शूद्र मुनिलिंग नहीं धारण कर सकता। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के पुरुष ही मुनिदीक्षा के अधिकारी माने गये हैं।

उक्त प्रकार मुनि दीक्षा के योग्य व्यक्ति की पूरी छान-बीन करके पश्चात् आचार्य मुनि-दीक्षा देवे। क्योंकि मुनि-लिङ्ग जगत्-
पूज्य है। इसलिए विकलांग, अधिकांग, लिंगदोष (पुरुषेन्द्रिय दोष), विकार युक्त मुख इत्यादि शरीर के दोषों से युक्त व्यक्ति को तथा दुराचार
दुर्व्यवहार, अन्यायसेवी, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, राज, समाज व देश विरोधी मनुष्य को भूलकर भी दीक्षा न दे। शान्त, गम्भीर, सुशील
अव्यसनी, सौम्याकृति, सरल चित्त, परम वैराग्यवान, कुलीन, मन्द कषायी, विवेकी, विनत इत्यादि गुणों से युक्त मनुष्य को बहुत काल पर्यन्त
साथ में रख कर भलीभांति परीक्षा करके पश्चात् दीक्षा देवे। इसी में दीक्षा लेने वाले व देने वाले का और जगत् का हित है। अन्यथा सब
का अकल्याण और धर्म का अपवाद होने की संभावना रहती है और उसका कारण दीक्षा देने वाला आचार्य बनता है। उसका शिष्यमोह
या प्रमाद समाज व धर्म का नाशक सिद्ध होता है। अतः दीक्षकाचार्य को इस विषय में पूर्ण सावधान रहना चाहिए।

(७) दीक्षकाचार्य को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दीक्षा का अभिलाषी व्यक्ति, स्त्री पुत्र माता पिता आदि कुटुम्बियों
से लड़ाई झगड़ा करके तथा जाति में किसी से वैर बाँधकर तो दीक्षा नहीं ले रहा है। क्योंकि वह गुरु बनकर अपने पूर्व वैर का बदला लेने में
जगत्पूज्य मुनि भेष का दुरुपयोग करता है। और इस उत्कृष्ट विश्वसनीय परमशान्त मुनि धर्म की निन्दा व हास्य करवाता है। इसलिए
सब प्रकार प्रकृति आदि सब बातों को जांचकर दीक्षा देनी चाहिए।

(८) जिसके धर्मपत्नी अल्पवय (छोटी उम्र) की हो या घर में पांच बाल-बच्चे हों और उनके भरण-पोषण शिक्षणादि का
प्रबन्ध न हो, या जिसके सर पर धनका ऋण हो, माता पिता वृद्ध हों, और उनकी सेवाशुश्रूषा करने वाला अन्य कोई न हो उसे दीक्षा नहीं देनी
चाहिए। आचार्य का कर्तव्य होता है कि जिसको दीक्षा देना हो, उसके माता पिता, स्त्री पुत्रादि की आज्ञा मिलने पर उसे दीक्षा देवे।
मुख्य सम्बन्धियों की आज्ञा मिले बिना कदापि दीक्षा न दें। यदि बिना उन की अनुमति के दीक्षा देगा तो बड़ा उपद्रव उपस्थित हो जावेगा
और उनकी निराधार पत्नी असहाय माता पिता व अनाथ बाल बच्चों के हाय विलाप करने व उनके करुण रोदन से उसका व समाज के
अन्य दयालु मनुष्यों का हृदय फटने लगेगा। सम्पूर्ण विवेकी मनुष्य विरोधी बन जावेंगे। तथा अन्य विधर्मी भी मुनिधर्म की घोर निन्दा
करने लगेंगे। वास्तव में ऐसा अविवेक पूर्ण कृत्य निन्दा के योग्य ही माना गया है। इसलिए दीक्षाकाचार्य के लिए धर्मज्ञान के साथ व्यवहार
ज्ञान का होना भी आवश्यक बताया गया है।

मुनि धर्म तो सब का हित चाहने वाला है, उसमें निर्दयता और अपवाद का क्या काम है? लेकिन अज्ञानी जीवों के निमित्त
से अनुचित, धर्म-विरुद्ध कार्यों के कारण धर्म की भी निन्दा होती है और इस जिनेन्द्र के समान मुनि भेष की हँसी होने लगती है। साधु
छह काय के जीवों के परम बन्धु और परमदया की मूर्ति होते हैं उनसे, जो अज्ञानवश अनुचित कार्य होने से सम्पूर्ण मुनियों को निर्दय
आदि होने का कलङ्क लगता है वह अदूरदर्शी व अज्ञानी साध्वाभासों से ही लगता है।

किस प्रकार के पुरुष व स्त्री को दीक्षा देना चाहिए ?

(१०) जिसके चित्त से सांसारिक सम्बन्धियों का मोह ममत्व निकल गया हो, जिसका मन विषयों से परम विरक्त हो गया हो, जिसको जैन सिद्धान्त का ज्ञान हो, अपने शरीर से वैराग्य और संसार से भय उत्पन्न हो गया हो, केवल आत्म-कल्याण की भावना ही जिसके हृदय में लहराती हो, जिसे खोटे कार्यों से घृणा और पाप से भय होता हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया में दया भाव पाया जाता हो, जो शान्त स्वभाववाला और अपने कर्तव्य को समझनेवाला हो, वह दीक्षा के योग्य है। किन्तु यदि किसी के सफेद कोढ़ हो, मृगी रोग हो या वह काना हो, बहरा हो, नपुंसक हो, या किसी संक्रामक रोग से पीड़ित हो तो परिस्थिति के विचार से आचार्य दीक्षा न दे।

दोषरहित और गुणसहित दीक्षा के योग्य श्रेष्ठ जाति कुल के व्यक्ति को ही दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा लेकर कैसी अवस्था धारण करे ?

शरीर के सम्पूर्ण संस्कारो का त्याग कर, बालक के समान निष्कषाय और निर्विकार नग्न-दिगम्बर वेष धारण कर, इन्द्रिय और मन को अपने वश मे रखे। वैराग्य भावना में तत्पर हुआ अपने डाढ़ी और मूंछ के बालों का लोच करे। जीवरक्षा के निमित्त मयूर की पिच्छी अपने हाथ में धारण करे। शौच के लिए काष्ठ का कमण्डलु तथा ज्ञानाभ्यास के लिए योग्य पुस्तक ग्रहण करे। इस प्रकार जीव-रक्षा, शरीर-शुद्धि व ज्ञानाभ्यासके उपकरण के अतिरिक्त सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा नवकोटि त्याग करे, तथा निरन्तर आत्म-भावना मे अनुरक्त हुआ द्वादशानुप्रेक्षा का मनन चिन्तन करता रहे। एवं मन वचन व काय से लिंग शुद्धि दिगम्बर भेष की (निर्मलता) के लिए सदा सावधान रहे।

भगवान कुंदकुंदाचार्य ने ऐस परमवीतराग दिगम्बर मुनि भेष को अर्थात् लिंग शुद्धि को आयतन कहा है—

> मण-वयण-कायदव्वा आयत्ता जस्स इंदिया विसया।
> आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजयं रूवं ॥ ५ ॥
> मयरायदोसमोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
> पंचमहव्वयधारा आयदणं महरिसी भणियं ॥ ६ ॥ (बोधपाहुड)

मन वचन काय द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द ये जिसके आधीन हैं वह संयम विशिष्ट मुनि का

रूप जिन मार्ग में आयतन कहा गया है।

जिस मुनि के आठ प्रकार के मदों में से एक भी मद नहीं है, जिसके राग परिणति का सर्वथा अभाव है, बाह्य पदार्थ मे तथा शरीर में भी जिसके मोह का लेश नहीं है, जिसकी आत्मा मे क्रोध लोभ और मायाचार का अंश ढूंढने पर भी नहीं मिलता और जो परम अहिंसा, उत्कृष्ट सत्य, महान अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य और समस्त परिग्रह का त्याग इन पञ्च महाव्रतों के धारण करनेवाला है वह आयतन है। अर्थात दर्शन, स्पर्शन और पूजन के योग्य उसकी उक्त प्रकार की अवस्था को लिंगशुद्धि कहा गया है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने लिंग-शुद्धि को ही प्रतिमा रूप से वर्णन किया है।

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं।
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥ (बंध पाहुड)

अर्थ—दर्शन और ज्ञान से जिनका चारित्र निर्मलता को प्राप्त होगया है ऐसे मुनि का, आत्मा से भिन्न जो निर्ग्रन्थ, वीतराग शरीर है वह प्रतिमा स्वरूप है। अर्थात् जिसके बाल के अग्र भाग बराबर भी परिग्रह नहीं है, तथा जो वीतराग स्वरूप है, पर पदार्थ में न राग है, न द्वेष है और न मोह है—इस प्रकार शान्त-मुद्रा का धारक परम वीतराग स्वरूप निर्ग्रन्थ मुनि का दर्शन, ज्ञान, चारित्र सम्पन्न जो जङ्गम शरीर है वह जिन मत में प्रतिमा मानी गई है। इस प्रकार की अवस्था का नाम लिंग-शुद्धि है।

लिंग-शुद्धि से लाभ

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ ८४ ॥ (भग. आ.)

अर्थ—दिगम्बर मुद्रा सम्पूर्ण जीवों के विश्वास का कारण होती है। जगत् के प्राणी विचारते हैं कि ये अपने पास वस्त्र का खंड तक नहीं रखते हैं, तब अन्य वस्तु का ग्रहण कैसे कर सकते हैं? इनसे किसी को भय नहीं होता; क्योंकि भय उत्पन्न करने वाले शस्त्र अस्त्रादि इनके पास नहीं होते हैं। गुप्त (छिपे हुए) शस्त्रादि की भी सम्भावना या शङ्का नहीं हो सकती; क्योंकि शस्त्रादि छिपाने के लिए इनके पास वस्त्रादि कुछ भी नहीं हैं। तथा इनकी शान्त मुद्रा देख कर शत्रु भी विश्वास करने लगता है। उनके निर्विकार और कुरूप संस्कार रहित मलीन शरीर को देखकर दर्शक को विरक्ति उत्पन्न होती है। मुनि को भी मलीन संस्कार रहित शरीर के धारण करने से नित्य प्रतिक्षण

वैराग्य भावना की जागृति होती है। विषयों से विरक्ति उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण मनुष्य (स्त्री या पुरुष) का उनपर पूज्य भाव पैदा होता है। वे सोचते हैं कि इनको अपने शरीर पर अनुराग नहीं है; अतः दूसरी वस्तुओं पर कैसे अनुराग कर सकते हैं? इसलिए उनका हृदय उनके प्रति निर्विकार और पवित्र रहता है। जातरूप धारक संयमी का मन भी नग्न वेष के धारण करने से व स्नानादि द्वारा शरीर का संस्कार न करने से विषय सुखों से सदा विरक्त रहता है। वह सदा चिन्तन करते हैं कि "मैं किस पर अनुराग करूं? क्या मांस, रुधिर और मल मूत्र की गंदी झोपड़ी रूप अत्यन्त घृणित स्त्री आदि का शरीर अनुराग करने योग्य है? विवेकी पुरुष इस मास रुधिरादि की थैली का छूना तो दूर रहा देखना व स्मरण करना भी नहीं चाहते हैं। मैंने तो शुद्ध बुद्ध अतिनिर्मल आनन्दमय चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए इस सर्वोत्कृष्ट मुनि धर्म को धारण किया है।" इस प्रकार वे विवेकज्ञान से अपने स्वरूप का चिन्तन करते हैं। इसलिए उनके मनमें विषय सुख के प्रति कभी आदर भाव उत्पन्न नहीं होता है। प्रेताकार समान मलिन मुनि के शरीर को देखकर अविवेकी महिलाजन भी उनमें अनुराग नहीं करती है। इसलिए संसार के सब प्राणियों का आदर भाव निर्ग्रन्थ लिंग में होता है।

वस्त्रादि का सर्वथा त्याग करने से मुनि किसी के परतन्त्र नहीं होते। वस्त्रादि रखने से उनकी प्राप्ति के लिए संयमी को गृहस्थ के अधीन वृत्ति होती है। तथा उसी की रक्षा का सदा भय लगा रहता है। चोरादि के द्वारा चुराये जाने का भय बना रहता है। उनके प्रक्षालनादि के लिए आरम्भादि द्वारा हिंसादि दोष उत्पन्न होते हैं। वस्त्रादि के नाश के भय से उनकी रक्षा के लिए संयम के घातक उद्गमादि दोष सहित स्थान में शयनासन करना पड़ता है।

दिगम्बर मुद्रा धारण करने से दंश मशक शीत घामादि की परीषहों को सहने का सुअवसर प्रतिक्षण मिलता है जो कि कर्मनिर्जरा का मुख्य साधन है। इससे आत्मबल प्रकट होता है और अनेक उपसर्गों के आने पर भी चित्त चञ्चल नहीं होता है। धैर्य और सहिष्णुता की वृद्धि होती है। और सब प्रकार के परिग्रह के बोझ से रहित हुआ मुनि आत्मध्यान में स्थिरता प्राप्त करता है। परिग्रहधारक के चित्त में निष्कम्पता नहीं आती है। उसके चित्त में चञ्चलता रहती है। कहां तक इसके गुण वर्णन किये जावें। यह दिगम्बर भेष जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप (प्रतिबिंब) है और मुमुक्षु जीवों के लिए मुक्ति का उपाय है। इससे रागादि दोषों का परिहार होता है। और आत्मानुभूति की जागृति होती है। और भी बहुत से गुण इस जिनसदृश लिंग (दिगम्बर भेष) के धारण करने पर स्वतः उत्पन्न होने लगते हैं।

(२) व्रतशुद्धिः

ते सव्वगन्थमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्टचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति ॥ १५ ॥ (मूला० अ० ९)

अर्थ—जिस संयमी ने मिथ्यात्व, वेद, कषाय (क्रोध,मान,माया, लोभ), राग, द्वेष, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन चौदह प्रकार के आभ्यन्तर तथा क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, भाण्ड इन दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों का नवकोटि से जन्म भर के लिए त्याग किया है वही नग्नमुद्रा का धारक मुनि अपने शरीर में भी ममत्व रहित, बालक समान निर्विकार होता हुआ तैलादि मर्दन, उद्वर्त्तन (उबटना) स्नानादि से शरीर के संस्कार का त्यागी होता है और जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को पर भव में भी अपने साथ ले जाता है।

भावार्थ—दिगम्बर मुद्रा धारण करने वाला मुनि चौदह प्रकार के आभ्यन्तर और दश प्रकार के बाह्य परिग्रह का त्याग कर शरीर से भी ममत्व नहीं करता है। शरीर के संस्कार का त्यागी होता है। सम्पूर्ण आरंभ (प्राणी हिंसा के कार्य) से अलग रहता है। हिंसादि सब पापों का त्याग करता है। बाल के अग्रभाग प्रमाण भी परिग्रह को नहीं रखता है। जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता है, वहीं निवास करता है। किसी के अधीन नहीं रहता। सब प्रकार स्वतन्त्र होता है, विद्युत् के समान जिसका स्थान नियत नहीं होता है, अर्थात् निश्चित रूप से एक स्थान में निवास नहीं करता है।

(३) वसतिका शुद्धि

गामेयरादिवासी णयरे पञ्चाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्तएगंतवासी य ॥ १६ ॥ (मू० आ० आ०)

अर्थ—जिस बस्ती के चारों ओर कांटे आदि बाड़ हो, उसे गाँव कहते हैं उसमें मुनि एक रात्रि वास करते हैं। जिसमें प्रवेश चार बड़े दर्वाजे हों उसे नगर कहते हैं, उसमें पांच दिन तक निवास करते हैं। इससे अधिक नहीं ठहर सकते; क्योंकि पांच दिनों में तीर्थ यात्रादि सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इससे अधिक निवास करने से उस स्थान से ममत्व उत्पन्न होता है। स्त्री, नपुंसक, पशु आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करने वाले, निर्दोष आचरण के पालक मुनियों का ग्राम में एक रात और नगर में पांच दिन ठहरने का विधान है।

एकान्त स्थान का अन्वेषण करनेवाले गन्धहस्ती के समान मुनि विविक्त स्थान में ही सुख का अनुभव करते हैं। पर्वत की कन्दरा, गुफा, वृक्ष-कोटर, शून्य-गृहादि में रहते हुए भी धैर्य से विचलित नहीं होते हैं। जिनाज्ञा में रमण करते हुए परम आनन्द चित्त होकर आत्मा को ध्यान में संलग्न करते हैं।

जिस समय गाँव या नगर में वास करते हैं, उस समय वहां पर भी एकान्त मठ शून्य गृहादि निर्दोष स्थान में वास करते हैं। उस स्थान से ममत्व सम्बन्ध नहीं जोड़ते। वहां पर कमल पत्र की तरह निर्लेप रहते हैं।

मुनीश्वर पर्वत के शिखर, कंदरा तथा गुफा आदि कायर पुरुषों को भय उत्पन्न करने वाले स्थानों में निवास करते हैं। जहां पर सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं का प्रचार रहता है, उन विकट स्थानों मे रहकर वे ध्यान करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

सिंह समान निर्भीक मुनि उन भयावह घने जंगल मे जाकर ध्यान धरते हैं, जहां पर सिंह व्याघ्र शूकर रीछ आदि के शब्द गूंज रहे हों। उनकी त्रास जनक ध्वनि मुनीश्वरों के चित्त को लेशमात्र भी चंचल नहीं करती है। वे धीर वीर मुनि ऐसे भयानक स्थानों में उत्तम ध्यान सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ऐसे भयानक वन मे मुनि किस विधि से रहते है ? उसे दिखाते हैं—

सज्झायझाणजुत्ता रत्तिं ण सुवंति ते पयामं तु ।
सुत्तत्थं चिंतंता णिद्दाए वसं ण गच्छंति ॥ २८ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—भयंकर वनादि तथा एकान्त शून्य गृहादि मे निवास करनेवाले मुनि स्वाध्याय और ध्यान मे दत्तचित्त हुए रात्रि में नहीं सोते। श्रुत भावना में और एकाग्रचित्त होकर ध्यान मे मग्न रहते हैं। रात्रि का प्रथम और अन्तिम प्रहर उक्त-प्रकार बिताते हैं। वे सूत्र तथा अर्थ और उभय (सूत्र व अर्थ) का चिन्तन करते रहते हैं, इसलिए वे निद्रा के वश नहीं होते हैं।

भावार्थ—निर्ग्रन्थ मुनि ध्यान स्वाध्यायादि के कारण जब शरीर मे थकान मालूम होती है, तब श्रम का परिहार करने के लिए रात्रि का पहला और पिछला पहर छोड़कर शयन करते हैं। हाथ का तकिया लगाकर एक करवट सोते हैं। बार बार करवट बदलते नहीं हैं। गोदुहन आसन वीरासन, मृतकासन, पद्मासन, पर्यंकासन इत्यादि आसनों में जो ध्यान मे स्थिरता करनेवाला प्रतीत हो उस आसन से एकाग्रचित्त होकर आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करते हैं। श्रुतज्ञान के पद पदार्थ का मनन-चिन्तन करते हैं। आत्मा धर्म्यध्यान या शुक्लध्यान में रमण करता रहे ऐसे उपायों का अवलम्बन करते हैं। अनेक प्रकार के परीषह और उपसर्गों के आने पर उनके प्रतीकार की इच्छा तक नहीं करते। अपने शरीर से ममत्व का त्याग करने के कारण परीषह व उपसर्ग उनकी आत्मा में किसी प्रकार विकार उत्पन्न नहीं करते। जैसे किसी दूसरे के सूने घर में अग्नि काण्ड आदि उपद्रव के उपस्थित होने पर मनुष्य के मन मे दुःख व शोक नहीं होता है उसी प्रकार भेद विज्ञान द्वारा शरीर को शून्य घर समझनेवाले मुनि के दुःख का आविर्भाव नहीं होता है। इस प्रकार की भावना जिनके अन्तः करण मे निरन्तर निवास करती है वेही धीर और पापभीरु मुनीश्वर कर्म का क्षय करने मे समर्थ होते हैं।

(४) विहार शुद्धि

मुत्ता णिरावयेक्खा सच्छंदविहारिणो जहा वादा।
हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं ॥ ३१ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—समस्त प्रकार के परिग्रह से सर्वथा निर्लेप, तथा किसी पदार्थ की आकांक्षा नहीं करने वाले मुनि, वायु के समान स्वच्छन्द विहारी ग्राम नगर पत्तनादि से मण्डित वसु धरा (पृथ्वी) पर नित्यप्रति भ्रमण करते हैं। किन्तु किंचिन्मात्र भी उद्विग्न नहीं होते।

भावार्थ—नित्य विहार करनेवाले मुनि शुद्ध माने गये हैं। जो मुनि आगमोक्त विहार करने मे प्रमाद करते है, अथवा जिन शासन की अवहेलना करके विना विशेष कारण के महीनों तक एक स्थान मे निवास करते हैं वे मुनि सदोष हैं। मुनि की उत्तमता व निर्मलता तो वायु के समान निरन्तर स्वच्छन्द विहार करने से ही होती है। मुनि पैदल विहार करते हैं। किसी प्रकार की सवारी नहीं करते। क्योंकि चेतन बैल अश्वादि वाहन पर चढ़कर विहार करने मे उन्हें पीड़ा पहुचती है और मार्गस्थित छोटे जन्तुओं की रक्षा नहीं हो सकती है। अचेतन मोटर वायुयान आदि की सवारी से भी जलकाय, पृथ्वीकाय, अग्निकायादि जन्तुओं की तथा मार्गस्थित त्रस जीवों की भारी हिंसा होती है। तथा वाहन पर सवारी करने से परतन्त्रता तथा दीनता आती है। समस्त परिग्रह के त्यागी मुनि के निकट रुपया पैसा नहीं होता और वे किसी से याचना नहीं करते। अतएव मुनि के सब प्रकार के वाहन का त्याग होता है। वे पैदल विहार करते हैं। मुनीश्वर सब जीवों के निष्कारण बन्धु होते हैं। करुणा से उनका हृदय आर्द्र रहता है। वे भूमि पर के जीवों को बचाते हुए इस प्रकार चलते हैं कि मानो खोये हुए रत्न का ही अन्वेषण कर रहे हों। तथा माता जैसे पुत्र पर स्नेह करती और उसकी सर्व प्रकार रक्षा करती है उसी प्रकार मुनि सब जीवों के रक्षक होते हैं। वे जीवादि षट् द्रव्य और नवतत्त्व के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। उनके स्वरूप को ज्ञान रूपी उज्ज्वल प्रकाश से भले प्रकार जानते हैं, इसलिए पापजनक क्रियाओं का परिहार कर प्रवृत्ति करते हैं।

निर्ग्रन्थ साधु पाप भीरु होते हैं। अतः उनके यावज्जीव मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदना द्वारा सम्पूर्ण पाप जनक कर्मों का त्याग होता है। वे प्रयोजन वश भी तृण का छेदन नहीं करते, वृक्ष का पत्ता नहीं तोड़ते। किसी हरितकाय–वनस्पति का छेदन नहीं करते। वृक्ष की त्वचा, शाखा, कोपल, कन्दमूलादि छेदन, भेदन, मोटन (मरोड़ना) आदि नहीं करते। छेदन तो दूर रहा, उनका स्पर्श तक नहीं करते। प्रमाद से अथवा भूल से किसी सचित्त वनस्पति का स्पर्श होजाने पर प्रायश्चित लेकर उस दोष को दूर करते हैं। वे दूसरे से पत्र फलादि का आरम्भ नहीं कराते और न उसका अनुमति देते हैं। जो साधु सचित्त वनस्पति के आरम्भ व भक्षणादि को प्रेरणा करता है उसको अहिंसा महाव्रत से च्युत समझना चाहिए।

दयापरायण परम अहिंसक निर्ग्रन्थ मुनि सचित्त मिट्टी आदि पृथ्वी आदि खोदना, पीटना, चूर्ण करना, कूटना आदि न तो स्वयं करते और न दूसरे से करवाते हैं। जल का सिंचनादि कदापि नहीं करते। पंखा आदि हिलाकर वायुकाय के जीवों की विराधना कभी नहीं करते। अग्नि को न जलाते और न बुझाते और न अन्य किसी प्रकार उक्त जीवों को पीड़ा पहुचाते हैं और न दूसरो के द्वारा उक्त जीवो को कष्ट दिलाते हैं। यदि अन्य पुरुष किसी प्रकार का सावद्य कार्य करता है तो उसकी अनुमोदना नहीं करते। बल्कि प्रिय मधुर वचन द्वारा उपदेश देकर पाप कार्य से होनेवाली हानि समझाकर सावद्य कार्यो से उसको बचाते हैं।

साधु सदा निर्भय निहत्थेसिंह समान विचरते है। समस्त प्राणियो पर साम्य भाव रखते है, इसलिए किसी प्रकार के शस्त्र अस्त्र धारण नहीं करते। हाथ में डंडा तक नहीं रखते। उनका कोई शत्रु नहीं है। सब जीवों को मित्रवत् समझते हैं। सम्पूर्ण जीवों को आत्मवत् चिन्तन करते हैं। मेरे द्वारा किसी तरह किसी जीव को पीड़ा न हो जावे। यदि मेरे निमित्त से इन जीवों को दुःख पहुंचा तो वह दुःख मेरी आत्मा को बेचैन करदेगा उनका ऐसा स्वच्छ व दृढ संकल्प सम्पूर्ण जीवो की पीड़ा के परिहार म प्रवृत्ति करता है।

आत्म-साधना में तत्पर रहने वाले निर्ग्रन्थों का अतिशान्त गम्भीर चित्त क्षुधा तृषा शीत उष्ण इत्यादि परीषहों के तथा देव-तिर्यंचादि कृत उपसर्गों के प्राप्त होने पर दीनता नहीं दिखाता, किन्तु रणांगण में उत्साहित शूरवीर पुरुष की तरह धैर्य धारण कर वैराग्य भावना रूपी शस्त्र का प्रयोग कर उन पर विजय प्राप्त करता है। साधु शत्रु मित्र पर माध्यस्थ भावना धारण कर रागद्वेष को परास्त करते हैं। कूर्म (कछुए) की तरह अपनी सब इन्द्रियों को सुकोड़ कर प्रिय व अप्रिय विषयों में आदर व अनादर बुद्धि नहीं करते हैं। संसार के किसी पदार्थ की आकांक्षा न होने से उनके मन की चपलता दूर होकर स्थिरता उत्पन्न हो जाती है। उनके निर्मल अन्तःकरण में माया प्रपञ्च का लेशमात्र सद्भाव न होने के कारण वे सब जीवों के विश्वास पात्र होते हैं।

जिनेन्द्र शासन रूपी मार्ग पर सदा दृष्टि रखते हैं। उसके उल्लंघन से आत्मा की महती हानि को समझते हैं। जन्म मरण के तथा सांसारिक इष्ट-वियोगादि अन्य दुःखों से भयभीत हुए गर्भावास के असह्य कष्टों से घबराते हैं।

हे आत्मन् ! घोर नरक के कुंभीपाक के समान दुःखदेने वाले माता के उदर में बहुत काल तक मल, मूत्र, रुधिरादि से लिपटे हुए रहकर भयानक संताप भोगना पड़ता है। इसलिए इस गर्भ वसती से अतित्रस्त होकर मुनि छुटकारा चाहते हैं।

ज्ञान-दीपक से जगत के समस्त पदार्थों की असली हालत को देखकर कामभोग से विरक्त होते हैं और ज्ञान-चक्षु से अगर्भ-वास के स्थान को ढूंढते हैं और वहां पर पहुंचने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का आश्रय लेकर वैराग्य भावना में लीन होते हैं। शरीर से निरपेक्ष हुए धैर्य रूप लगाम हाथ मे लेकर आत्मा का दमन कर संसार के मूल (मोह राग द्वेष) का छेदन करते हैं।

(५) भिक्षा शुद्धि

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए ।
जमणट्ठं भुंजंति य ण विय पयामं रसट्ठाए ॥ ४४ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनीश्वर अपने संयम की साधनाके लिए वेला,तेला,चोला,पंचोला आदिके पारणे निमित्त परघर भिक्षा से भोजन करते हैं। जो भोजन कृत कारित और अनुमोदना से रहित हो तथा उद्दिष्टादि दोषों से वर्जित हो उसे ही ग्रहण करते हैं। जिव्हारसकी लोलुपता से अधिक भोजन नहीं करते हैं।

भावार्थ—साधु जन आहार को उपादेय नहीं समझते। जहाँ तक हो सके उसका त्याग करते हैं। अपनी शक्ति को न छिपाकर वेला तेलाआदि उपवास धारण कर निरन्तर आत्म-ध्यान, स्वाध्याय में लगे रहते हैं। जब देखते हैं कि आहार के बिना स्वाध्यायादि कार्यों में बाधा उपस्थित होती है तब भिक्षा के लिए बस्ती में निकलते हैं। क्षुधा व तृषा से अतिपीडित होने पर भी मुखादि द्वारा दीनता प्रकट नहीं करते। नवधा भक्ति के साथ दिया हुआ कृत कारित अनुमोदना से रहित नवकोटि विशुद्ध, उद्दिष्टादि दोषवर्जित तथा चौदह मल (नख रोमादि) रहित प्रासुक शुद्ध आहार घर-घर मे लेते हैं। जिस घर पर ममत्व हो उसमें आहार ग्रहण नहीं करते हैं। रस की लालसा रहित उतना आहार करते हैं जिससे स्वाध्यायनादि आत्मीय कार्य की सिद्धि हो सके। आधा उदर अन्न से और चौथाई जल से भरते हैं। चौथाई खाली रखते हैं। स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता वश रस हीन भोजन का त्याग नहीं करते हैं। गृहस्थ जैसा भी शुद्ध और प्राह्य भोजन देता है उसे मौन पूर्वक ग्रहण करते हैं और वह भी पाणि-पात्र में है।

उद्दिष्टादि छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय रहित साधु का भोजन होता है। उसका विवेचन पिण्ड शुद्धि अधिकार में किया गया है। वहाँ से जान लेना चाहिए।

मुनि भिक्षा के लिए किस प्रकार भ्रमण करते हैं इसका खुलासा निम्न प्रकार है।

अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु ।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति ॥ ४७ ॥ (मूला० आ० अ०)

अर्थ—आज मुनीश्वर भिक्षा के लिए यहां पर आयेंगे इस प्रकार गृहस्थों को ज्ञात नहीं हो उसे अज्ञात कहते हैं। अनभिप्रेत

अर्थात् मुनि अमुक अभिग्रहादि धारण करेंगे व अमुक घर जावेंगे इत्यादि अभिप्राय का ज्ञान न हो उसे अनभिप्रेत कहते हैं। ऐसे अज्ञात और अनभिप्रेत घर मे चाहे वह धनिक का घर हो, या मध्यम स्थिति वाले का घर हो चाहे गरीब का घर हो, एक पंक्ति में आये हुए घरों को नहीं टालकर मौन पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।

भावार्थ—मुनियो को चाहिए कि वे जो अभिग्रहादि करें उसका स्पष्ट ज्ञान गृहस्थो को न हो सके। तथा जिस घर मे मुनि आहार को जावें उससे पहले अपने संघ का ब्रह्मचारी आदि जाकर सब अनुकूल व्यवस्था न करे। जहां पर संघ का कोई व्यक्ति गृहस्थ के घर जाकर पहले भोजनादि का प्रबन्ध करले और उसी घर में साधु का आहार हो तो इसमें उद्दिष्ट दोष ही नहीं अधः कर्म दोष उत्पन्न होता है, जो मुनि के मुनित्व का नाशक माना गया है। तथा साधु चर्या के लिए निकले तब पंक्तिबद्ध घरों में जहां पर भी विधि मिल जावे वहां पर आहार के सम्पूर्ण दोषों को टालकर आहार ग्रहण करले। ऐसा न करे कि विधि मिलने पर किसी घर को बीच में छोड़ कर अपनी इच्छानुसार कहीं पर भोजन ग्रहण करे। इससे ममत्व और आहार की लालसा या अन्य किसी प्रकार का मोह प्रकट होता है। इसलिए गरीब, धनवान, साधारण घर के भेद भाव को ध्यान मे न रखकर प्रासुक शुद्ध विधि सहित जहां पर भी योग्य सरस या नीरस आहार मिले उसको स्वीकार करले। भोजन ठंडा हो या गर्म हो, स्निग्ध हो या रूखा हो, लौना हो अलौना हो, स्वादु हो या बेस्वाद हो अपने मनके अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, इन बातों का ख्याल न कर प्रासुक शुद्ध आहार जहां पर मिल जावे वहां ही ग्रहण करले।

आजकल अत्यन्त शीत (ठंड) है यदि गर्म भोजनादि मिले तो अच्छा हो, आजकल गर्मी के दिन हैं इस समय शरीर में शीतलता करनेवाला पदार्थ मिले तो अच्छा हो, आज उपवास का पारणा है स्निग्ध सरस भोजन मिले तो शरीर के लिए हितकर होगा-इत्यादि बातों का कभी चिन्तन न करे। जैसा भी प्रासुक शुद्ध आहार मिले साधु को शान्ति पूर्वक इस प्रकार ग्रहण करलेना चाहिए—जैसा कि कोई व्यापारी अपनी मालसे भरी गाड़ी को इष्टस्थान पर ले जाने के लिए पहियो के मध्यभाग में तैल या घी का ओंगन देता है। यदि ओंगन न दिया जावे तो धुरे से अग्नि उत्पन्न हो जाती है और वह धुरा नष्ट भ्रष्ट होजाता है; गाड़ी इष्ट स्थान पर पहुंचने मे असमर्थ हो जाती है। उसे अभीष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए घृत या तैल का ओंगन आवश्यक होता है। उसी प्रकार साधु का शरीर रत्न-त्रयादि अमूल्य रत्नों से भरी हुई गाड़ी है। यदि इसका उचित समय में प्रासुक शुद्ध आहार रूपी ओंगन न दिया जावे तो वह अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) मे पहुंचने के पहले मार्ग में ही नष्ट हो जावेगी तथा उसका संयम तपश्चरण ध्यानादि के विषय में किया गया समस्त श्रम व्यर्थ हो जावेगा। साधु शरीर को मोक्ष मार्ग पर चलाने के लिए आहार रूपी ओंगन देना आवश्यक समझते हैं। राग बुद्धि से शरीर को पुष्ट करने के लिए साधु आहार नहीं करते हैं।

मुनि उक्त दृष्टि से गृहस्थ के घर चर्या के लिए जाते हैं। यदि दैवयोग से विधि न मिलने पर या अन्तराय आदि के हो जाने पर आहार न मिले तो उदास नहीं होते, चित्त में विषाद नहीं करते। उसको कर्म की निर्जरा का कारण समझकर शान्ति से स्वाध्यायादि आत्म-हितकर कार्यों मे लग जाते हैं।

वे विचारते हैं कि आहार प्राण-धारण के लिए किया जाता है और प्राणों का धारण धर्म के आराधन के लिए है। अतः जितने काल शरीर प्राण में है उतने समय तक उसे धर्म के आराधन मे ही लगाना चाहिए। ऐसे विचारों से वे धर्म कृत्यों में एक समय भी प्रमाद नहीं करते हैं।

भोजन की प्राप्ति के लिए वे किसी की प्रशंसा स्तुति नहीं करते हैं। न किसी वस्तु की याचना करते हैं। क्योंकि याचना करने वाले के दीनवृत्ति होती है। जिसके हृदय में दीनता होती है वह गृहस्थों का दास बन जाता है तो उसका श्रोताओं के चित्तपर कुछ भी असर नहीं पड़ता है। द्रव्यादि की याचना करनेवाला साधु नहीं होता वह साधु भेष को लजाने वाला है। इसलिए साधु किसी वस्तु की याचना करना तो दूर रहा, उसकी इच्छा तक नहीं करते। क्योंकि उसको भी वे संयम का नाशक समझते हैं। आहार के लिए भी जब मौन धारण करके बस्ती में जाते हैं तब आहार कर चुकने तक किसी प्रकार का संकेत तक नहीं करते। तब अन्य वस्तु को मुख से कैसे मांग सकते हैं। देहि (दो) यह शब्द दीनता और करुणा का प्रकट करने वाला है। इसे कदापि अपने मुख से नहीं निकालते। पांच सात दिन आहार न मिलने से भूख के मारे मुनि का शरीर शिथिल व अशक्त हो गया हो, आंखों के सामने अंधेरा आने लगा हो, मस्तक शून्य हो गया हो, चक्कर आने लगे हो, हाथ पॉव हिलाने का सामर्थ्य भी नहीं रहा हो तथापि धीर वीर मुनि एक मास तक नहीं मांगते हैं। ऐसे स्वाभिमानी (मुनि धर्म का मान रखने वाले) मुनीश्वर अपने मुख से क्या कोई अन्य वस्तु मांग सकते हैं?

मुनि भोजन न मिलने पर अपने हाथ से भोजन नहीं बनाते, न उपदेश देकर दूसरे से बनवाते हैं। न अपने लिए भोजन वाले की अनुमोदना करते हैं। क्योंकि उन्होंने भोजन बनाने का नवकोटि से त्याग किया है। भिक्षा के समय जो अन्न मिल जाता है उसीमें संतुष्ट रहते हैं। भिक्षा मे भात रोटी आदि अशन मिले, अथवा दुग्धजलादि पेय पदार्थ मिले, या लड्डू आदि पकवान मिले, अथवा राबड़ी आदि मिले या जलमात्र मिले, जो शुद्ध व प्रासुक हो, पाणिपात्र में उसका प्रतिलेखन कर-देखशोधकर भक्षण करते हैं। जो भोजन विवर्ण (भद्दा) न हो, प्रासुक (सम्मूर्छनादि जन्तुरहित), मनोहर तथा एषणा के दोष से रहित हो, ऐसा भोजन भिक्षा में मिले तो ग्रहण करते हैं। किन्तु बासा (दो तीन दिन का बना) भोजन नहीं करते। विवर्ण (भद्दा) तथा चींटी आदि जिसमें चल रही हों उसे अप्रासुक समझ कर उस भिक्षा-भोजन का त्याग करते हैं।

जिस भोजन के पदार्थ में काली पीली नीली लाल श्वेत पांच रंग की फूलन में से कोई फूलन आगई हो, जो चलित रस हो,

जिसमें दुर्गंध आती हो, साधु उसको अप्रासुक समझ कर त्याग करते हैं। क्योंकि फूलन में साधारण वनस्पतिकाय के अनन्त निगोदिया जीव होते हैं। इसलिए साधु ऐसे पदार्थ का भोजन करते हैं जो सर्वथा प्रासुक हो, शुद्ध हो और मनोज्ञ हो। जो आहार देखने में भी भद्दा मालूम होता हो उसका भी ग्रहण नहीं करते हैं।

फलादि जब तक अग्नि से पकाये नहीं गये हों साधु उन्हें नहीं लेते हैं। क्योंकि बिना अग्नि के पकाये फलादि के टुकड़े प्रासुक नहीं होते हैं।

जिसमे बीज न हो ऐसा फलों का गूदा या रस प्रासुक किया हुआ ग्रहण करते हैं। जिसमें बीज हों ऐसा फल का गूदा रस आदि कभी नहीं लेते। तथा बिना बीजवाला रस वगैरह भी यदि प्रासुक न किया गया हो तो उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

शुद्ध प्रासुक भिक्षा-भोजन करने पर भी प्रमादाविकृत दोषों का निवारण करने के लिए मुनि प्रतिक्रमणादि करते हैं। दिन में भोजन की दो वेला होती हैं, किन्तु मुनि एक दिन में एक बार ही भोजन करते हैं।

५. ज्ञान शुद्धि

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।
णिस्संकिद णिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू ॥ ६२ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन महात्माओं ने ज्ञान–चक्षु प्राप्त कर लिया है, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान के उज्जवल प्रकाश से सम्पूर्ण लोक के सार पदार्थों को जान लिया है उनको आगम निरूपित पदार्थों में शंका नहीं होती है तथा संसार की किसी बीभत्स (घृणास्पद) वस्तु पर जिन्हें घृणा नहीं है तथा कठिन से कठिन तपस्या करने पर भी आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होती है, आत्मबल के अनुकूल पराक्रम द्वारा निरन्तर उत्साह सहित कार्य में लगे रहते हैं।

जिस साधु को स्वसिद्धान्त का तथा परमत के सिद्धान्तों का रहस्य ज्ञान होता है वह साधु अपने आचरण से नहीं गिरता है। ज्ञान रूप उज्ज्वल दीपक उसके आगे प्रकाश करता चलता है। वह संसार के सब पदार्थों का असली स्वरूप उघाड़कर उसके सामने रख देता है। यह पदार्थ तेरे लिए अमृत के समान ग्राह्य है और यह पदार्थ तेरे लिए विष के समान अहितकर होने के कारण त्याज्य है। यह अनुकूल क्रिया तेरे आत्मा को पवित्र और बलवान बनाने वाली है और यह विपरीत क्रिया तेरी आत्मा को मलीन व निर्बल बनाने वाली है, इत्यादि बातों को सूचित कर श्रेयोमार्ग को प्रकाशित करने वाला एक सम्यग्ज्ञान ही है। यदि विपरीत कारणों के संयोग से

चारित्र के आराधन में साधु उत्साह हीन होने लगता है, कठिन परीषहों के प्राप्त होने पर चारित्र से उदासीनता होने लगती है, तब यह ज्ञान उसका हाथ पकड़कर गिरने से बचाता है और उदासीनता दूर कर उत्साह को बढ़ाता है। उन्मार्गगामी मन को थांभ कर मार्ग में लाता है। साधु को यथासमय भले बुरे की सूचना देनेवाला एक ज्ञान ही है।

ज्ञान बल से साधु तपस्यादि कार्यों में निरन्तर दृढ़-चित्त रहता है उसका धैर्य बढ़ानेवाला ज्ञान ही है। आत्मा में गम्भीरता तथा अन्य गुणों की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। ज्ञान रूपी लगाम से ही इन्द्रिय रूपी बलवान घोड़े वश में रहते हैं। मन-मातङ्ग को आत्मा के वश में रखने के लिए ज्ञान अंकुश के समान है।

तपस्या से जिन साधुओं के कपोल सूख कर पिचक गये हैं, भृकुटि (भौंहें) ऊपर उठ आई हैं, आंखें अन्दर घुस गई हैं, शरीर अस्थि पंजर मात्र हो गया है, वे साधु भी ज्ञान के बल से निरन्तर तपश्चरण में उत्साहित रहते हैं और उनका वास्तविक स्वरूप जानते हैं। यही कहा है।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥ ६७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—जिन मुनि पुंगवों के कर्ण श्रुतज्ञान रूपी रत्न से भूषित हैं, जो हेतुवाद में पारङ्गत हैं, जिनकी बुद्धि विशाल है, जो व्याकरणशास्त्र, तर्कशास्त्र, साहित्य, छन्द, अलंकार आदि शास्त्रों में निपुण हैं; वे महामति साधु परमपद (मोक्षमार्ग) के वास्तविक ज्ञाता होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान व चारित्र मोक्ष का मार्ग माना गया है। नय व प्रमाण से जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जानकर उनपर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यग्दर्शन सहित जितना भी ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान तथा जितना भी चारित्र है वह सम्यक् चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिये पदार्थों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है और पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है इसलिए सबसे प्रथम प्रमाण व नयों के स्वरूप का ज्ञान होना चाहिए। नय और प्रमाण के ज्ञान बिना वस्तु का यथार्थ ज्ञान होना असंभव है।

श्रुतज्ञान से निरूपित अर्थ के एक देश (अंश-धर्म) का निश्चय करनेवाले ज्ञान को नय कहते हैं। नैगम, संग्रह आदि उसके सात भेद हैं। उनका स्वरूप ज्ञानाचार में दिखा आये हैं। अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो भेद हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय द्रव्यार्थिक हैं, क्योंकि ये द्रव्य का ग्रहण करते हैं। और शेष तीन (शब्द, समभिरूढ और एवंभूत)

पर्यायार्थिक हैं। ये पर्याय का ग्रहण करते हैं। अथवा व्यवहार और निश्चय इस प्रकार नय के दो भेद हैं। वस्तु की शुद्ध अवस्था के ग्रहण करनेवाले नय को निश्चय नय कहते हैं। तथा अन्य वस्तु के संयोग से उत्पन्न हुई वस्तु की जो वर्तमान अवस्था है उसके ग्रहण करनेवाले नय को व्यवहार नय कहते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु को समस्त स्वरूप के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके प्रत्यक्ष व परोक्ष ये दो भेद हैं। इसका विशद विवेचन ज्ञानाचार मे किया गया है वहां जान लेना चाहिए।

जिसको आगम का ज्ञान है उस मुनि का चारित्र उज्ज्वल होता है। तथा वही अपना तथा दूसरे का कल्याण करने में समर्थ हो सकता है। श्रुतज्ञान बिना मनुष्य अन्धे के समान होता है। जैसे अन्धा मार्ग-स्थित कण्टक, पत्थर, खड्डे आदि अनिष्ट वस्तु से बचकर ठीक मार्ग पर चलने मे असमर्थ होता है वैसे ही ज्ञान हीन मनुष्य आत्मा के अहितकर मार्ग (चारित्र) से बचकर उत्तम निर्दोष मोक्षमार्ग पर चलने मे असमर्थ होता है। इसलिए आचार्य महाराज ने साधु के श्रुतज्ञान (आगमज्ञान) की आवश्यकता दिखाई है।

मुनि को व्यवहार ज्ञान भी होना चाहिए। जो द्रव्य क्षेत्र काल व भाव के अनुसार उपदेश नहीं देता है, उसके उपदेश से जनता को कुछ भी लाभ नहीं होता है; प्रत्युत कभी कभी उससे भयंकर हानि हो जाती है। द्रव्यक्षेत्रकालादि का विचार न करनेवाला मुनि अपने चारित्र को भी निर्मल नहीं रख सकता, इसलिए साधु को मतिमान् होना चाहिए।

जो साधु व्याकरण, न्याय, छन्द, साहित्यादि शास्त्रों का वेत्ता होता है उसके द्वारा मुनिपद सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है। वह विद्वानों के हृदय में स्थान पाता है। उसीसे जैन धर्म का उद्योत (प्रकाश) होता है। सच्ची धर्म की प्रभावना विद्वान् मुनि ही कर सकता है। उसकी ज्ञानमय आत्मा के मुख से निकले ओजस्वी वचनों से विरोधी विद्वान् भी नत मस्तक हो जाते हैं। शास्त्र निपुण विद्वान् आचार्यों ने ही सम्पूर्ण जीवों को सन्मार्ग दिखानेवाले शास्त्रों की रचना की है। उन शास्त्रों के आधार पर ही इस समय जैन धर्म टिका हुआ है और भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग प्राप्त हो रहा है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मोक्ष मार्ग के ज्ञाता व प्रणेता (उपदेशक) विद्वान् मुनिराज ही हो सकते हैं।

अनेक शास्त्रों के पारगामी विद्वान् साधु कैसे होते हैं, इसके लिए कहते हैं—

अवगद माणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य॥ ६८॥ (मूला० अ०)

अर्थ— शास्त्र पारंगत मुनियों के लेश मात्र भी ज्ञान का गर्व नहीं है, ज्ञान के गर्व से उच्छृंखल (उद्दंड) होकर आगम विरुद्ध एक शब्द

भी उच्चारण नहीं करते हैं, उत्तम जाति, उच्च कुलादि का अभिमान उनके हृदय को स्पर्श तक नहीं करता है, क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी उनके अन्तःकरण में क्रोध का आविर्भाव नहीं होता है, इन्द्रियों का दमन उनने कर लिया है, वे मृदुता गुण से भूषित हैं। स्वसिद्धान्त पर सिद्धान्त के विद्वान् हैं तथापि वे अत्यन्त विनयवान होते हैं।

भावार्थ—प्रकाण्ड विद्वान मुनि के सामने जगत् के उद्भट विद्वान् खद्योत के समान प्रतीत होते हैं। उनकी ज्ञान-तेजस्विता से विख्यात-कीर्ति पंडित भी कांपते हैं। तथापि वे मुनिराज अपने ज्ञान का गर्व नहीं करते हैं। क्योंकि उन्हें वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध होगया है। पुण्य और पाप के कारणों का स्वरूप उनके हृदय मे अंकित होगया है। वे समझते हैं कि अभिमान पाप का बीज है। अभिमान से आत्मा का पतन होता है। केवलज्ञान के सामने मेरा ज्ञान खद्योत के समान है। मैं जिसका अभिमान करूँ, वह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्माधीन है। तीव्र असाता कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के उदय होने पर यह क्षायोपशमिक ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस पराधीन और नश्वर ज्ञान का अभिमान करना अज्ञानता है। मेरा स्वरूप तो केवलज्ञान है। उसकी प्राप्ति के लिए मैंने यह उत्कृष्ट मुनिपद धारण किया है। यदि मैं अभिमान करूँगा तो इष्ट मार्ग से गिर जाऊँगा और मेरा सर्वस्व लुट जावेगा-ऐसा विचार कर साधु अभिमान को निकट तक नहीं आने देते हैं। किन्तु इसके विपरीत विनीत भाव धारण करते हैं। अपने ज्ञान की अल्पता की ओर ध्यान रखते हैं। अभिमान वश किसी का निरादर नहीं करते। उनके वचन मे, क्रिया मे नम्रता झलकती है। निरन्तर ज्ञानोपयोग में लवलीन रहते हैं। अपने चारित्र को उज्ज्वल करने मे तत्पर रहते हैं। इन्द्रिय व मन पर विजय प्राप्त कर धर्मध्यान में उपयुक्त रहते हैं।

(६) उज्झनशुद्धि

ते छिण्णणेहबंधा णिण्णेहा अप्पणो सरीरम्मि।
ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि ॥ ७० ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—जिसने पुत्र स्त्री आदि के प्रेम सम्बन्ध को छिन्न भिन्न कर दिया है और अपने शरीर से भी स्नेह सम्बन्ध तोड़ दिया है वे साधु अपने शरीर का किंचिन्मात्र भी संस्कार नहीं करते हैं।

भावार्थ—उज्झन शुद्धि चार प्रकार की होती है। १ शरीर के संस्कार का त्याग, २ स्त्री पुत्रादि बन्धुवर्ग का सर्वथा त्याग, ३ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग और ४ गर्वादि भाव का त्याग।

उज्झन शुद्धि के चार भेदों का स्वरूप

१ जिन महात्माओं ने अपने शरीर के ममत्व (मोह) का त्याग कर दिया है वे शरीरको आत्मा का शत्रु समझते हैं। क्योंकि जितने पापकर्म होते हैं उसका कारण यह शरीर ही है। इसलिए वे उसका किसी प्रकार का संस्कार नहीं करते। न वे मुँह धोते हैं, न नेत्रों पर जल छिड़कते हैं न दन्तधावन करते हैं। अर्थात् मंजन या दतौन लेकर या अंगुलि से रगड़कर दांत स्वच्छ नहीं करते हैं। सुगन्धित द्रव्यों का उबटना नहीं करते हैं। न पाँवों पर केशर आदि द्रव्यों को लगाकर उन्हें स्वच्छ करते हैं, न शरीर का मर्दन करवाते हैं, न मुक्के आदि से शरीर कुटवाते हैं, न किसी काष्ठादि यंत्र से शरीर को दबवाते हैं न शरीर के अङ्गोपांग को धूपादि से सुगन्धित करते हैं। अपने कंठ की शुद्धि के लिए अथवा स्वर को ठीक करने के लिए वमन नहीं करते हैं। अपने नेत्रों में सुरमा कज्जलादि का अंजन नहीं करते। न पेट की शुद्धि के लिए या उदर पीड़ा का परिहार करने के लिए विरेचन लेते हैं। सुगन्धित तैलादि का शरीर पर मालिश नहीं करते हैं। चन्दन अगर कपूरादि का लेप नहीं करते हैं। कभी नेति धौती नहीं करते हैं। नासिका में और उदर में वस्त्र डालकर नासिका और उदर को स्वच्छ करने की क्रिया को नेति धौती कहते हैं, साधु उसे कभी नहीं करते हैं। न सिंगी आदि लगवाकर अपने शरीर का रुधिर निकलवाते हैं। इत्यादि शरीर सम्बन्धी कोई संस्कार नहीं करते हैं।

प्रश्न—मुनिराजों ने अपने शरीर के समस्त संस्कारों का त्याग कर दिया है, तो व्याधि आदि के उत्पन्न होने पर वे क्या करते हैं?

उप्पण्णम्मि वाही सिरवेयण कुक्खि-वेयणं चेव।
अधियासिंति सुधिदिया कायतिगिंछं ण इच्छंन्ति ॥ ७२ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—ज्वर, जुकाम, खांसी आदि रोगों के उत्पन्न होने पर, सिर की पीड़ा, उदर शूल, पेट में दर्द अथवा इसी प्रकार अन्य असह्य पीड़ा के उत्पन्न होने पर वे परमधैर्य धारण करनेवाले मुनिराज चारित्र में दृढ़ता रखते हुए आत्मा को बेचैनी पैदा करने वाली वेदना की प्रतीकार की इच्छा भी नहीं करते हैं, किन्तु चित्त को ज्ञान दर्शन की भावना में तल्लीन करते हैं।

भावार्थ—मर्मान्तक पीड़ा करनेवाले असह्य रोग-वेदना के उपस्थित हो जाने पर धैर्यधुरन्धर मुनिराज शरीर की ओर से ध्यान को हटाकर ज्ञान दर्शन भावना में चित्त को लगा देते हैं। वे विचारते हैं कि हे आत्मन्! तेरे जो असाता वेदनीय कर्म का उदय आया है, वह अपना फल दिये बिना न रहेगा। तू व्यर्थ व्याकुलित हो रहा है। इस समय तुझे शान्ति धारण करना चाहिए। इसका उपार्जन तूने किया है, अब इसका फल भोगते समय क्यों कायर होता है? यह कर्म का ऋण तूने किया है। ऋण को चुकाना सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है। यदि तू इस समय धैर्य धारण कर इसे शान्ति से सहलेगा तो तू ऋण-मुक्त हो जावेगा। और यदि तू धैर्यहीन होकर हाय विलाप करेगा। आत्मा में आर्त-

ध्यान उत्पन्न करेगा तो भी यह कर्म तुझे नहीं छोड़ेगा, अपना फल अवश्य देगा। बल्कि धीरज का त्याग करने से तुझे कई गुना अधिक कष्ट प्रदान होगा और नये कर्म का बन्ध भी होगा। यह फिर तुझे भविष्य में इससे भी अधिक दुःख देगा। सोच! यह अवसर तेरे लिए बड़ा शुभ उपस्थित हुआ है, जो मनेत और ज्ञानोपयोग दशा में यह कर्म उदय में आया है। सब सुन्दर संयोग इस समय तुझे प्राप्त हैं। इस समय भी तू अज्ञान वश शोक संताप करेगा तो तेरे समान मूर्ख और कौन होगा? जरा सोचो! तुमने नरकों में कैसे २ दुःख सहे। जहाँ निरन्तर ताड़न छेदन, भेदन, भाड़ में भर्जन, शूल्यारोहण, अग्नि-पाचन आदि घोर क्लेश सहे हैं, जिनका स्मरण मात्र हृदय को कम्पित कर देता है, उसके समक्ष यह आगत दुःख तो कुछ भी नहीं है। देखो! सुकुमाल मुनिराज के शरीर को नोच नोच दोनों बच्चों सहित स्यालनी ने भक्षण किया, तथापि लेशमात्र भी उनके मन में विकार नहीं हुआ। कहाँ वह सुकुमाल मुनीश्वर जिनके शरीर को सरसों भी काँटे समान दुःख देती थी, उसको स्यालनी द्वारा आधा भक्षण कर लेने पर रंचमात्र दुःख नहीं हुआ। पाँचों पांडव मुनिराजों के गले में अग्नि से तप्तायमान लोहे के जगमगाते हुए गहने डाले गये तथापि उन्होंने रंच मात्र दुःख नहीं किया। उनके शरीर के अवयव दग्ध होगये, किन्तु उनके चित्त में विकार नहीं हुआ। गजकुमार मुनि के मस्तक पर अंगीठी बनाकर अग्नि जलाई गई, किन्तु मुनिराज का मन-सुमेरु तनिक भी चंचल न हुआ। तुमको कष्ट ही कहाँ? क्या यह शरीर तुम्हारा है? यह तो विनश्वर पुद्गल का पिण्ड है। तुम तो शुद्ध बुद्ध चैतन्य सुख स्वरूप आत्मा हो। ऐसे शरीर तो तुमने अनन्त बार पाये हैं। जैसे पुराने वस्त्र को उतार कर नये वस्त्र पहननेवाला मनुष्य अप्रसन्न नहीं होता है। उसी प्रकार इस जीर्ण और दुर्गन्ध शरीर को छोड़कर दिव्य अनुपम देवादि के शरीर को प्राप्त करनेवाले को क्या दुःख? संयमी इसकाल में भी स्वर्ग का अधिकारी है। इस पंचमकाल में मोक्ष नहीं होता तो भी देवगति के सिवा संयमी दूसरी गतिमें नहीं जाता। यदि तुम आर्त्तध्यान करोगे तो तुम्हारे संयम रत्न को कषाय चोर लूटलेंगे और तुम्हें नरकादि गति में जाना पड़ेगा। इत्यादि ज्ञान द्वारा मुनिराज अपने शारीरिक रोगादि के प्राप्त होने पर शरीर का सत्कार नहीं करते हैं। न वेदना से मन को विकृत करते हैं—व्याकुल चित्त नहीं होते हैं। किंकर्तव्य विमूढ़ नहीं होते और मन में कायरता नहीं धारण करते, किन्तु महान् धैर्य का अवलम्बन लेकर व्याधि, रोग, वेदनादि से न घबराकर उससे मुकाबला करते हैं। विवेक-ज्ञान से शरीर को अन्य समझ कर उसकी चिकित्सा आदि की इच्छा तक नहीं करते हैं।

शंका—क्या मुनिराज विरेचनादि सब औषधियों का त्याग करते हैं?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं है।

शंका—तो किस की इच्छा करते हैं?

समाधान—मुनिराज जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी औषध का निरन्तर सेवन करते हैं। इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विषय-सुख का विरेचन लेते हैं। अर्थात् विषय-सुख का त्याग करते हैं। ज्ञानामृत का पान करते और आत्मा के ध्यान में सन्तुष्ट रहते हैं।

आत्म-ध्यान जन्म जरा मरण रूप व्याधि के क्षय करने का कारण है। शारीरिक मानसिकादि समस्त दुःखों के क्षय का कारण है, तथा सम्पूर्ण कर्मों के नाश करने में समर्थ है।

जिनागम के तत्वों मे सम्यक्श्रद्धान रखने वाले चारित्रपरायण साधु जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करके कोई क्रियां नहीं करते। जिनागम मे व्याधि-प्रतीकार करने के लिए औषधादि का सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। अतः प्राणों का नाश होते हुए भी साधु किसी प्रकार की औषधादि का सेवन नहीं करते हैं।

आत्महित-परायण मुनिराज शरीर को रोगादि-ग्रस्त हुआ जानकर विचारते हैं कि यह शरीर रोगों का मन्दिर है। इसमें सैंकडों व्याधियां उत्पन्न होती हैं। यह तो रोगों का प्रसूतिगृह है। एक रोग का प्रतीकार करने पर दूसरा उत्पन्न हो जाता है और उसका उप-शमन होते ही तीसरा रोग प्रकट हो जाता है। इसकी असली चिकित्सा असाता वेदनीय कर्म का क्षय करने से हो सकती है। यह शरीर जब तक रहेगा तब तक रोग का अस्तित्व मिट नहीं सकता, अतएव इसकी उत्पत्ति कभी न हो ऐसा उद्योग करना ही श्रेयस्कर है।

इस शरीर के साथ रोग व्याधि आदि का सम्बन्ध है। ये इसीको हानि पहुंचा सकते हैं। इसमें मेरी क्या हानि है ? यह शरीर तो अशुचि है, महा अशुभ है, शुभ लेश्या से रहित है, नसों और आंतड़ियों से वेष्टित है, चमडी से ढका हुआ है, हड्डियों की ठिठरी है जो मांस चर्बी से लिपी हुई हैं, भीतर रुधिर शुक्र कलेजे आदि से भरा हुआ और मलमूत्र कफ आदि का स्थान है।

यह शरीर सडे हुए फोड़े के समान घिनौना है। ससार के सब अपवित्र और घृणित पदार्थों से यह शरीर बना है। शरीर का सबसे उत्तम अवयव मुख है, वह कफ और लार युक्त है। आखों में से कीचड, नासिका से कफ, कानों से कर्णमल निकलता रहता है। अधो-द्वार से मल मूत्र समय समय निकलते रहते हैं। सम्पूर्ण शरीर से स्वेद जल बहता रहता है। कहाँ तक कहा जावे यह शरीर मलगृह है, श्मशान के समान बीभत्स है। और इस पर भी इसके टिकने का कुछ भरोसा नहीं। कितने ही रक्षा के उपाय किये जावें तो भी अनियत काल मे नष्ट हो जाता है। इसकी क्षण भर रक्षा करने को भी त्रिलोकों मे कोई भी समर्थ नहीं है।

जिस शरीर की रक्षा करने के लिए यह प्राणी निरन्तर दत्तचित्त रहता है–जिसको सुन्दर पवित्र, सुगन्धित, दुग्ध पक्वा-आदि पदार्थों का भोजन देता है उनको यह शरीर मल मूत्र रूप कर डालता है। यदि वह अन्नादि दांतों मे लगा रह जावे तो रोग उत्पन्न कर देता है। इस शरीर के संसर्ग से सुन्दर भोजन जलादि मनोज्ञ पदार्थ कफ-लार-स्वेद-मल-मूत्रादि दुर्गन्ध पदार्थ बन जाते हैं, जिसका स्पर्श तो दूर रहा नेत्रों से देखना भी कोई नहीं चाहते।

प्रश्न—ऐसे शरीर को मुनि क्यों धारण करते हैं ? और आहारादि से उसका पोषण क्यों करते हैं ?

उत्तर—इस अत्यन्त अशुचि और विनश्वर शरीर से पवित्र और अविनाशी सुख देने वाले धर्म का आराधन करने के लिए इसकी आहारादि से रक्षा करते हैं, क्योंकि मनुष्य शरीर से ही चारित्र धर्म का पालन होता है, स्वाध्याय-ध्यान की सिद्धि होती है। जब तक यह स्वाध्यायादि में साधक होता है, तब तक इसका पोषण करते हैं और इससे अपना खूब काम लेते हैं। और जब यह रोगादि से पीड़ित होता है, स्वाध्यायादि कामों में उपयोगी सिद्ध नहीं होता है तब इससे अपना सम्बन्ध तोड़ देते हैं और अपने परिणामों में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देते। इसीको उज्झन शुद्धि कहते हैं।

७ वाक्य शुद्धि

भासं विणयविहूणं धम्मविराही विवज्जए वयणं।
पुच्छिदमपुच्छिदं वा ण वि ते भासंति सप्पुरिसा ॥ ८७ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—सत्पुरुष मुनिराज धर्मविरोधी वचन का उच्चारण नहीं करते, धर्म से अविरुद्ध भाषा भी विनय रहित नहीं बोलते। पूछने पर या बिना पूछे कटु कठोर तथा व्यवहार-विरुद्ध या आगम-विरुद्ध कोई वचन मुख से नहीं निकालते।

भावार्थ—पाप से भयभीत महापुरुष इस बात का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि मेरे मुख से प्रमादवश ऐसा वचन न निकलने पावे जो लोगों को धर्म से विपरीत मार्ग पर चलाने वाला हो। प्रियवचन भी धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए। अविनीत वचन भी जनता को सन्मार्ग पर लाने में समर्थ नहीं होता। भाषा के वेत्ता विद्वान् मुनि आर्यभाषा का उच्चारण करते हैं, जिससे श्रोताओं के अन्तःकरण में आर्यभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगे। यदि समझाने के लिए किसी अन्य देश भाषा का प्रयोग करना पड़े तो भी ऐसी सरल और व्यवहार-मान्य भाषा का उच्चारण करते हैं, जो हृदय ग्राह्य होती है। नीचजाति के उच्चारण करने योग्य रे ! तू ! आदि तुच्छ वचन कभी नहीं बोलते। बड़ों से तो क्या बालक के प्रति भी रे, तू आदि हलके शब्दों का प्रयोग नहीं करते। उत्तम पुरुषों के उच्चारण करने योग्य तुम, आप, सज्जन, आदि वचनों का प्रयोग करते हैं। विनय पूर्वक बोला गया वचन श्रोताओं के हृदय को आकर्षित करता है। तथा वक्ता के प्रति आदर व पूज्य भाव उत्पन्न करता है। धर्मोपदेश के समय मुनि आगम के सिद्धान्तों का घात करनेवाली भाषा नहीं बोलते। जिस विषय का ज्ञान न हो, उसका अपनी मति से कल्पित विवेचन नहीं करते, किसी के प्रश्न करने पर आगम के अनुकूल सरल चित्त से उत्तर देते हैं। यदि उस प्रश्न का उत्तर देने की शक्ति नहीं होती है, तो ऊटपटांग उत्तर न देकर अपनी अशक्ति प्रकट करते हैं। वे समझते हैं कि मेरे मुख से निकला हुआ वचन लोग सत्य मानते हैं। यदि मैंने अभिमान वश कुछ भी असत्य भाषण कर दिया तो इस मुनिवेष को लज्जित कर दिया। मुझे असत्य-भाषण करते हुए

देखकर लोगों की मुनिवेष से घृणा होने लगेगी। लोगों की सत्यभाषी मुनिराजों के प्रति भी अश्रद्धा होने लगेगी। मुनियों की सर्वोत्कृष्टता का नाश करके उनके प्रति अरुचि और अपूज्यता का और निन्दा का कारण हो जाऊँगा तो मेरे समान और कौन पापी होगा ? मुझसे यह गृहस्थ ही अच्छे हैं जो जैन धर्म की व मुनि वेष की प्रभावना व पूजा करते हैं। और मैं ऐसा पापी हुआ जो उनको निन्दा का कारण हुआ। इस सत्य महाव्रत के कारण ही सम्पूर्ण संसार मेरा विश्वास करता है। मेरे चरण पूजता है और मेरा दर्शन पूजन कर अपने जन्म को सफल व धन्य समझता है। मेरा कर्त्तव्य है कि मै प्राण जाने पर भी अज्ञानवश व अभिमानवश या मोहवश असत्य वचन न निकालूं।

मुनिगण शास्त्रों के पठन, पाठन, मनन-चिन्तन में अपना समय व्यतीत करते हैं। विना प्रयोजन किसी गृहस्थ स्त्री व पुरुष से संभाषण नहीं करते। वे गृहस्थों के लौकिक झगडों में नहीं बोलते। कहा भी है—

अच्छीहिं य पेच्छंता कण्णेहिं य बहुविहाइं सुणमाणा।
अत्थंति मूयभूया ण ते करंति हु लोइय कहाओ ॥ ८८ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मुनिराज भले बुरे रूप को, योग्य-अयोग्य वस्तु को आँखो से देखते हुए ऐसे रहते है, मानों वे नेत्रविकल हैं। कानों से सुनने योग्य व न सुनने योग्य अनेक प्रकार के वाक्यो को सुनते है, तथापि वे गूंगे व बहरे बन जाते हैं। मानो उन्होंने सुना ही नहीं हो, कहने के लिए उनके जीभ ही न हो। किसी भी समय लौकिकी कथा, गृहस्थो के झगड़े टंटे की बात को न सुनते हैं और न बोलते हैं।

सांसारिक झगडों से, लोगों के घरेलू बखेडो से मुनिराज को क्या मतलब है ? उन्होंने लौकिक सब सम्बन्ध का त्याग कर मुनि दीक्षा धारण की है। उस त्यागे हुए व्यवहार का ग्रहण करना उच्छिष्ट का ग्रहण करना है। अतः किसी लौकिक झगड़े में पड़नेवाले अपने आत्मा का घात तो करते ही हैं साथ मे निःस्पृह मुनिपद को भी कलंकित करते हैं।

हे मुनियों ! तुमने लौकिक कथाओं का वचन से ही नहीं, मन से भी त्याग किया है। अतः उनको मन मे भी स्थान देना तुम्हारे लिए लज्जा की बात है। तुम्हें स्त्री-सम्बन्धी कोई कथा नहीं करनी चाहिए। यह स्त्री सुरूप है, यह कुरूप है, यह सौभाग्यवती है, यह मधुर भाषणी है, यह कलहकारिणी है, यह अल्प-वयस्क है, यह प्रौढ़ा है, इत्यादि स्त्री सम्बन्धी कथा तुम्हारे लिए अत्यन्त अहितकारक है। ऐसे ही तुम्हें अर्थकथा भी नहीं करनी चाहिए। धन के उपार्जन करने के उपायों का वर्णन करना अर्थकथा है। राजादि की सेवा के द्वारा प्रसन्न करने से, अमुक वस्तु का वाणिज्य व्यवहार करने से, अमुक उपायों का अवलम्बन कर खेती आदि करने से, धातुओं के शोधन खननादि के साधनों को काम में लाने से, मन्त्रतंत्रादि का प्रयोग करने से, धन की उपलब्धि होती है। इस प्रकार की कथा को अर्थ कहते हैं। भोजन से सम्बन्ध

रखने वाली कथा को भोजन कथा कहते हैं। उनके यहाँ सुन्दर अशन–पान–खाद्य आहार में मिलते हैं। अमुक घर में भोजन–सामग्री की सुव्यवस्था है। वे आहार मे बड़े स्वादिष्ट पदार्थ संयमी को देते हैं। वह स्त्री बड़ा स्वादिष्ट और मनोहर भोजन बनाती है। उस के हाथ के बने हुए भोजन में बड़ा सुन्दर स्वाद आता है। अमुक घर में रूखा सूखा भोजन मिलता है। उसके घर दुर्गन्धियुक्त वेस्वाद भोजन होता है। इत्यादि प्रकार से भोजन की कथा तुम्हें कभी नही करनी चाहिए। देश-नगर-ग्राम, खेटक, कर्वटादि की कथा को देश कथा कहते है। (नदी पर्वत से घिरे हुए प्रदेश को खेट कहते हैं। सब तरफ से पर्वतों द्वारा घिरे हुए प्रदेश को कर्वट कहते हैं) अमुक खेट व कर्वट के निवासी बड़े युद्ध कुशल हैं। अमुक ग्राम (काटों की की बाड़ से घिरे हुए प्रदेश) में धन धान्य की समृद्धि है। वहाँ के लोग बहुत धनिक हैं। वहाँ पर परचक्र का भय नहीं है। वह नगर धनधान्य से परिपूर्ण है, उसमे किसी शत्रु का प्रवेश करना असंभव है। अमुक देश उत्तम यंत्र चालित सेनाओं से सुरक्षित है। उस पर शत्रु का प्रभाव नही हो सकता। इत्यादि नगर ग्राम द्रोणमुख देशादि की कथा कर्मबन्ध करने वाली है। अतः साधुओं की लिए सर्वथा त्याज्य हैं तथा राजाओं की कथा करना राजकथा कही जाती है उसके मन्त्री चाणिक्यादि नीति मे प्रवीण हैं, योग और क्षेम में वह राजा उद्योगशील है। (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु के रक्षण को क्षेम कहते हैं) उसके पास चतुरंग सेना है, उसने अनेक घोर संग्रामों में विजयलक्ष्मी पाई है, उसने सम्पूर्ण शत्रु-समूह को निर्मूलन कर निष्कंटक राज्य किया है। उस राजा के प्रताप के सामने किसी की तेजस्विता नहीं टिकती। उसकी सेना रण कुशल है। उसके पास शस्त्रास्त्रों के प्रचुरता है, इत्यादि राज-कथा करने से रौद्र परिणामो का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए मुनियों को कदापि ऐसी कथाएँ नहीं करनी चाहिए। साधुओं को चोरी की कथा भी नहीं करनी चाहिए। अमुक नगर का निवासी चोर बड़ा निपुण है। यह वीरता से मार्ग मे लूटता है। घात लगाने मे उसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता है। वह ऐसा गंठकठा है कि देखते देखते वस्तु को चुरा लेता है। आंखों म से कज्जल तक निकाल लेता है और पता नहीं चलने देता, वह ऐसा पश्यतोहर है। वह डाकू इतना शूर है कि उसको सेनाने चारों ओर से घेर लिया तथापि वह अकेला ही उससे लड़कर भाग निकला। इत्यादि चोर, डाकू, गंठकटे, लुटेरे आदि की कथा चोरी का महत्व प्रकट करती है, आत्मा के परिणामो मे विकार भाव उत्पन्न करती है; इसलिए मुनियों को ऐसी कथाएँ कभी नहीं करनी चाहिए। अमुक देश में हीरा उत्पन्न होता है। अमुक जगह पन्ना की खाने हैं। अमुक खाडी में मोती बहुतायत से पाये जाते हैं और बहुत सस्ते मिलते हैं। अमुक स्थान पर जाकर अमुक रत्नादि लाये जाएँ और अमुक स्थान में बेचे जावें तो बड़ा लाभ होता है। वहाँ पर केसर आदि उत्तम और अल्पमूल्य में मिलती हैं। अमुक नगर में बहुत महंगी मिलती हैं और बहुत बिकती है। वह देश रमणीय है। वहाँ पर अन्न पान साधु को सुलभ है। वहाँ के लोगों का खान-पान, पहनाव, रहन–सहन बड़ा श्रेष्ठ और मनोहर है। अमुक नगर के लोग इत्र तैलादि सुगन्धित द्रव्यों का अधिक उपभोग करते हैं। इसी प्रकार अन्य भी कर्मबन्ध की कारणभूत कथाओं को साधु कदापि न करे और न उनके सुनने में प्रीति करे।

मुनिराज नाटक के पात्रो (नटों) की, युद्ध मे कुशल सहस्रभट कोटिभटादि योद्धाओं की, कुश्ती करने मे प्रवीण पहलवानों की, मुष्टि आदि युद्ध मे कुशल मल्लों की, इन्द्रजालादि माया प्रपञ्च करने में प्रवीण इन्द्र जालियो (बाजीगरों) की, मत्स्यवध करने वाले

मनुष्यों की चतुराई की, उडते पक्षियों पर निशाना लगाने वाले लक्ष्यवेधी मनुष्यो की, जुआ खेलने में चातुर्य (चालाकी) करने वाले जुवारियों की, हस्त पाद सिर आदि शरीर के अवयवो का भेदन करने मे कुशल तथा जीव हिंसा में रति (प्रेम) रखने वाले मनुष्यों की, रस्सी व बांस पर चढ़कर खेल करने वाले नटों की कथा में कभी अनुराग नहीं करते हैं। वैराग्य परायण मुनीश्वर इन कथाओं का उच्चारण तो क्या, मनमें चिन्तन तक नहीं करते हैं। उक्त कथाओ को क्षण मात्र भी हृदय में स्थान नहीं देते हैं। जिन परम वीतराग भावना में रत हुए मुनियों का चित्त निरन्तर धर्म भावना में रंगा रहता है वे उक्त कथाओं का मन वचन काय से त्याग करते हैं। अर्थात् उक्त कथाओं के अर्थ को सूचित करने वाली काय द्वारा कोई चेष्टा नहीं करते हैं। हस्तादि से संकेत नहीं करते हैं। उनका वचन से उच्चारण तथा कर्णों से श्रवण नहीं करते हैं। और तो क्या, उनका मनमे चिन्तन तक नहीं करते हैं।

वैराग्य की मूर्ति साधु लोग हस्तादि द्वारा काम–क्रिया का सूचक सकेतादि नहीं करते,काम उत्पन्न करने वाले वचन नहीं बोलते, प्रहास-मिश्रत अशिष्ट वचन मुख से कभी नहीं निकालते, कभी खिलखिलाकर अट्टहास नहीं करते और न दूसरो को हंसाते हैं, शृंगार रस के पांडित्य द्योतक रमणीय वचनों का उच्चारण नहीं करते, अपने हाथ से दूसरे के हाथ का ताड़न नहीं करते और न पीठ आदि ठोकते हैं। क्योंकि ये सब क्रियाए विकारी मनुष्यों के योग्य है। निर्विकार-मन वचन काय के विकार से विमुख, परम विरक्त मुनिराजों की सब चेष्टाएं उद्धतता से रहित होती हैं। वे समुद्र क समान गम्भीर होते हैं। उनका चित्त क्षोभ रहित स्थिर होता है। उनका अन्तःकरण षट्–आवश्यक क्रियाओ–स्वाध्याय ध्यानादि मे–लवलीन रहता है। परभव के सुधार की भावना निरन्तर उनके चित्त में जागृत रहती है और इस लोक के अनिष्ट से भयभीत रहते हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट जगत्पूज्य पद का उन्हें सदा ध्यान रहता है। इसलिए वे कभी शरीर से, वचन से और मन से ऐसा कोई कार्य (विकथादि) नहीं करते, जिससे मुनि भेष का अपवाद हो, धर्म की निन्दा हो और अपने आत्मा का अहित हो।

प्रश्न—यदि मुनिराज उक्त विकथाएं नहीं करते तो कैसी कथाएं करते हैं।

उत्तर—मुनिराज ऐसी कथाएं करते हैं जिनसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति होती है या वृद्धि होती है। रत्नत्रय का स्वरूप प्रकट करनेवाली तथा उसमे दृढ़ता उत्पन करनेवाली, शरीर भोगादि से वैराग्य उत्पन्न करनेवाली, परलोक मे विश्वास पैदा करनेवाली, धर्म मे अभिरुचि करने वाली, स्व-पर का हित करने वाली धर्म कथाओ का वे उच्चारण करते हैं। आत्मा के कर्म बन्ध के कारणो तथा बन्ध का क्षय करने के उपायो का विवेचन करने वाली कथाओ को वे करते हैं। सर्व प्रथम तो वे मुनिराज अपने आत्महित के कार्य–षट् आवश्यक क्रियाओं का आचरण तथा ध्यानाध्यन-करते हैं। उससे जो समय बचता है उस समय को वे आत्महित साधक, जीवादि तत्त्वों का निरूपण करनेवाली, भेद विज्ञान प्रकट करनेवाली, पापकार्यों से अरुचि और पुण्यकार्यों में रुचि उत्पन्न करनेवाली, चारित्र मे प्रेम बढानेवाली तथा वैराग्य भावना को पुष्ट करनेवाली पुण्यकथाओ में लगाते हैं। वे मुनिराज एक उत्तम

द्य के समान होते हैं। क्योंकि वे विषय भोग रूपी अपथ्य सेवन करने वाले संसारी जीव रूपी रोगी को रत्नत्रय रूपी पथ्य औषध का दान देते हैं और स्वयं भी पथ्य और हितकर वैराग्य का सेवन करके स्व-पर का कल्याण करते हैं।

८ तपशुद्धि

णिच्चं च अप्पमत्ता, संजमसमिदीसु झाणजोगेसु
तवचरण-करण-जुत्ता, हवंति समणा समिदपावा ॥ ९९ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—तपस्या में तत्पर मुनिराज सर्वदा पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से रहित हुए प्राणीसंयम व इन्द्रिय संयम (छहकाय के जीवों के रक्षण और इन्द्रियों के दमन) में, पंच समितियों के पालन में, धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान के चिन्तन में, नानाप्रकार के अवग्रह (आखड़ी) के ग्रहण करने में, बारह प्रकार के तपश्चरण के आचरण करने में, तेरह प्रकार के चारित्र के पालन में और तेरह प्रकार के करण में उद्यत हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करते हैं।

कर्मों का क्षय करने के लिए मुनिराज बाह्य और अभ्यन्तर तप को तपते हैं। उनमें कायक्लेश तप अति दुष्कर है। उस तपश्चरण का आचरण करने के लिए अभ्रावकाश योग, आतपन और वृक्षमूल योग का साधन करते हैं। उन योगों का वे ही महापुरुष साधन कर सकते हैं जिनकी आत्मा में परम वीर्य-पराक्रम का उत्कर्ष है तथा शरीर में बल का प्राबल्य है। वे ही अपनी आत्मा से शरीर को सर्वथा भिन्न अनुभव करके तदनुकूल प्रवृत्ति करते हैं। वे ही महापराक्रमी धीर-धुरन्धर परम विरक्त मुनिराज उस शरीर को सदा के लिए आत्मा से पृथक् कर देने के लिए अभ्रावकाशादि योगों की साधना करने में कटिबद्ध होते हैं।

अभ्रावकाश-योग

जिस शीत से समस्त अटवी के वृक्ष जल गये हैं, सरोवरों के पानी पत्थर-से जम गये हैं, कमलों के सम्पूर्ण वन जलकर नष्ट हो गये हैं, पक्षी वृक्षों के घोंसलों को छोड़कर पर्वतों की गुफाओं और दरारों में बसेरा लेने लगे हैं, सिंह और हिरन एक दूसरे के समीपवर्ती स्थित होने पर भी शीत के कारण शरीर की चेष्टाओं से शून्य होकर एक दूसरे को बाधा देने में असमर्थ हो रहे हैं, कई पशु और पक्षी शीत के कारण अपने प्राणों से रहित हो गये हैं, रात दिन निरन्तर हिम (पाला) गिर रहा है, मनुष्यों के शरीर थरथर काँपते हैं, कोई भी अपने घर के बाहर नहीं निकलता, उसी शीत के समय में ये धीर वीर महामुनि अटवी में नदी के तट या किसी जलाशय के निकट कायोत्सर्ग

धारण कर पत्थर के स्तम्भ की भांति खड़े हुए ध्यान लगाते है। उस समय चरण से लेकर मस्तक पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर हिम से ढक जाता है तो भी वे महामुनी शरीर से सब प्रकार का सम्बन्ध तोड़कर आत्म-ध्यान मे मग्न रहते हैं। उनके रोम मात्र मे भी विकार प्रतीत नहीं होता है। और वे कर्मों की प्रतिसमय असंख्यात गुणी निर्जरा करते हुए आत्मा की शुद्धि करते हैं।

आतपन—योग

ज्येष्ठ मास के सूर्य की प्रखर किरणो से तप कर समस्त भूतल अग्नि के समान होगया है। अग्नि ज्वाला के समान अत्यन्त उष्ण वायु से वन के सब वृक्ष व लताएं सूखकर पत्र पुष्पादि से रहित हो गये हैं। नदियों और सरोवरों का जल सूख गया है। प्यास से व्याकुल हुए प्राणियों के कण्ठ सूख गये हैं। गर्म लू से दग्ध होकर पक्षियों के कलेवर प्राण-शून्य होगये हैं। मार्ग पथिक-विहीन हो गये हैं। मनुष्य अपने निवास स्थान से बाहर पॉव तक नहीं रखते। वन के पशु पर्वत की गुफाओं मे बेहोश पड़े हुए हैं। मनुष्य अपने घरों मे भी गर्मी के सन्ताप से व्याकुल होकर अनेक प्रकार के शीतोपचार करने पर भी शान्ति नहीं पा रहे हैं। उस समय मे धीरधुरीण महा मुनिराज पर्वत के शिखर पर जाकर सूर्य के सम्मुख हुए कायोत्सर्ग धारण कर खडे रहते हैं। शरीर को झुलसानेवाली कडी धूप उनके शरीर पर अठखेलियाँ करती है। पर्वत और भूमितल को अग्नि समान तपाने वाली उष्ण-वायु उनके शरीर के साथ रंग रेलियाँ करती हैं। तीक्ष्ण गर्मी से मुनिराज के कण्ठ ओष्ठ सूख गये हैं। तथापि वे महामुनि अनुभव रूपी अमृत का पान करने मे आशक्त हुए उस गर्मी की बाधा की कुछ भी परवाह न करके आत्म-ध्यान से च्युत नहीं होते है।

वृक्षमूल—योग

वर्षा के समय जब निरन्तर मूसलधार वृष्टि होनेसे सम्पूर्ण मार्ग जल से पूरित होजाते हैं। मेघ की घनघोर गर्जना और बिजली की कड़कड़ाहट से दिशाएँ गुंज उठती हैं, मेघ समूह के कारण भयानक अन्धकार मे भूतल का मार्ग-ज्ञान लुप्त होजाता है। बीच बीच मे बिजली के चमत्कार से वन की भयानकता और भी बढ़ जाती है अत्यन्त वायु के कारण प्राणियों के शरीर व्याकुल होते हैं। उस समय ध्यान के रसिया वे धीर वीर महा मुनीश्वर वृक्ष के तल मे कायोत्सर्ग से खडे रहते हैं। जिस वृक्ष के मूल मे अनेक सर्पों ने अपना मुख्य स्थान बना रखा है, उस वृक्ष के नीचे घोर अन्धकार मे खडे होकर ध्यान मे निश्चल बने रहते हैं। रंच मात्र चित्त में भय और क्षोभ नहीं करते। मानों निश्चेष्टपाषाण प्रतिमा है अथवा पत्र शाखा रहित वृक्ष का स्कन्ध है।

इस प्रकार त्रिकाल योग के धारक महामुनीश्वर बड़े बड़े वृक्षों को जड से उखाड फेंकनेवाले भयानक आंधी के झोकों को

सहते हैं। बड़ी बड़ी नदी, तडाग, सरोवर आदि के जल को सुखा देने वाली भयंकर उग्र गर्मी की बाधा को सहते हैं। सम्पूर्ण शरीर के अवयवों को संताप देनेवाले तीव्र पिपासा (प्यास) के असह्य दुःख को सहन करते हैं। शरीर के रुधिरादि को शोषण करने वाली, प्रलय काल की अग्नि के समान अत्युग्र बुभुक्षा के क्लेश को कुछ नहीं गिनते हैं। बीहड़ वन में अनगिनत दंश मशकें आदि जन्तुओं के काटने से शरीर में उत्पन्न असह्य वेदना पर विजय प्राप्त करते हैं। तथा विच्छू, सर्प,वराहादि के द्वारा किये गये घोर उपद्रव को सहते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जावे अधम देवकृत, तिर्यंचादिकृत सब उपसर्गों को केवल कर्मों का क्षय करने के निमित्त सहते हैं। इस लोक सम्बन्धी किसी भोगों की आकांक्षा नहीं करते।

इस प्रकार कायक्लेश तप का निरूपण कर अब वचन-जन्य क्लेश-तप का निरूपण करते हैं—

चट चटायमान उचटती हुई लोहे की चिनगारियों के समान सम्पूर्ण शरीर मे संताप पैदा करने वाले, मर्मभेदी दुर्जनों के अपवाद-जनक वचन सुनकर मुनिराज लेशमात्र भी चित्त मे क्षोभ नहीं करते। अविद्यमान दोषों के प्रकाश करनेवाले परुष-कठोर-तीक्ष्ण वचनों को सुनकर चित्त मे खेद नहीं करते। जाती और कुल को लांछित करनेवाले तथा तू पशुवत् है, तू शास्त्र-ज्ञान रहित तिर्यंच है इत्यादि अपमान-जनक वचन अथवा भर्त्सना करने वाले दुर्वचनों को सुन कर मुनि मन में विचारते हैं कि यह अज्ञानी भोले जीव इस हड्डी और मांसादि के कलेवर को दुर्वचन कहते हैं। क्योंकि इन्होंने आखों से इसी को देखा है और सुना है यह शरीर तो मेरा नहीं है। मैं इसके निमित्त से अपने परिणामों को कलुषित कर अपने आत्मा को कर्म बन्धन में क्यों डालूं ? पशुआदि के अनेक शरीर मैंने धारण भी किये हैं। उनका नामोच्चारण कर यह उपकारी मित्र मुझे उनका स्मरण दिला रहा है। यदि में क्रोधादि कषाय करूंगा तो वे नीच शरीर मुझे फिर मिलेंगे, अतः मुझे इन वचनों मे आनन्द मानना चाहिए। इस प्रकार विचार कर मुनि मन में प्रफुल्लित होते हैं कि यह कर्म-निर्जरा करने का अवसर मिला है। शान्ति धारण करने से नवीन कर्म वन्ध नहीं होगा और संचित कर्मों की निर्जरा होगी। यह तो मेरे लाभ का कारण हुआ।

वचन-जन्य क्लेश के सहन करने के स्वभाव का निरूपण करके अब शस्त्र प्रहारादि के उपद्रव सहने की क्षमता का निरूपण करते हैं—

यदि कोई मिथ्यादृष्टि किसी मुनिराज को क्रोध से अन्धा होकर लकड़ी से पीटने लगे, उनपर कङ्कर पत्थर की वर्षा करने लगे, रेत मिट्टी फेंकने लगे, चाबुक बेंत का प्रहार करने लगे, खड्ग (तलवार) छुरी आदि से आक्रमण करने लगे अथवा छुरी आदि शस्त्रों का प्रहार भी करे तो भी वे परमशान्त गम्भीर मुनिराज प्रहार व चोट करने वाले मनुष्य पर टेढ़ी निगाह से भी नहीं देखते हैं। वे विचारते हैं कि मेरे पूर्वकृत कर्म का उदय आया है। यह बेचारा क्या करसकता है, यह तो निमित्त मात्र है। इसमें इसका क्या अपराध है ? यह निमित्त नहीं होता तो कोई दूसरा निमित्त मिलता। तीव्रकर्म उदय मे आया है, वह तो अवश्य फल देगा। मेरा शत्रु तो पूर्वोपार्जित कर्म है।

मैंने उसको उत्पन्न किया है। अब वह उदय को प्राप्त हुआ है। मेरी भूल मुझे दुःख दे रही है। इस खड्गादि के प्रहार करनेवाले का कोई अपराध नहीं है। मैं पागल कुत्ते के समान मूर्ख तो हूं नहीं जो असली शत्रु को न समझकर बाह्य निमित्त को शत्रु मान बैठूं। मैंने जिनागम का अभ्यास किया है। आत्म-अनात्म का भेद-विज्ञान प्राप्त किया है। सब संसार से सम्बन्ध तोड़ कर कल्याण करनेवाली जिनदीक्षा ली है क्या मैं अज्ञानवश इन निरपराध मनुष्यादि पर द्वेष करूं? यह मेरा काम नहीं है। ऐसा तो मिथ्यादृष्टि करते हैं, जिनको विवेक-ज्ञान नहीं हुआ है और जिनको अर्हंतदेव और जिनवाणी का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। मुझे तो महापुण्य योग से यह सब कुछ मिला है। ऐसे अवसरों के उपस्थित होने पर यदि मैंने विवेकज्ञान का उपयोग नहीं किया तो मेरा मनुष्यजन्म पाकर ऐसे सुयोग का पाना व्यर्थ हो जावेगा इसलिए मुझे सावधान होना चाहिए। मेरे क्षमादि धर्म तथा रत्नत्रय रूप धर्म का घात न होना चाहिए। उसका घात ये मनुष्यादि नहीं कर सकते। ये शरीर का घात कर सकते हैं, जो कि मेरी वस्तु नहीं है। अतः यह रोष करने का अवसर नहीं है। इस प्रकार जो ज्ञान रूपी जल से आत्मा को अशान्त करने वाली अज्ञान-मोहनीय रूपी अग्नि को शान्त करते हैं वे मुनिराज शस्त्रादि के प्रहार से कभी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न नहीं करते। सामान्य मनुष्य भी जो कि पांचों इन्द्रियों का निग्रह (दमन) करने में तत्पर रहता है वह भी, क्रोध नहीं करता है। जिनागम के वेत्ता मुनिराज उपद्रव करने वाले मनुष्य पर किस प्रकार क्रोध कर सकते हैं? अतः हे महात्माओं! क्षमा के गुण को भलीभांति जाननेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अंगीकार करनेवाले क्षमामूर्ति आपको शत्रु पर क्षणमात्र रोष न करना चाहिए और अपने तपश्चर्यादि कार्य में दृढ़ता से संलग्न रहना चाहिए।

(१०) ध्यान शुद्धि

ध्यान की शुद्धि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किये बिना नहीं होती अतः प्रथम इन्द्रियजय का निरूपण करते हैं।

विसएसु पधावंता चवला चंडा तिदंडगुत्तेहिं।
इंदियचोरा घोरा वसम्मि ठविदा ववसिदेहिं ॥ १७ ॥ (मूला० अ०)

अर्थ—मन को लुभाने वाले रूप में, मधुर रसीले रस मे, मनोमोहक सुगन्ध में, शरीर को सुहावने स्पर्श में तथा चित्ताकर्षक पंचम धैवतादि स्वरों और मनोज्ञ गानों में, दौड़ती हुई अति चपल तथा क्षुब्ध चक्षु आदि इन्द्रियाँ भयानक चोर हैं। इनको वश में रखना यद्यपि अति कठिन है तथापि मनवचनकाय पर काबू करनेवाले विषय-विरक्त एवं चारित्राचरण में लीन मुनीश्वर उन्हें वश में कर लेते हैं।

भावार्थ—जैसे अश्वारोही (सवार) लगाम को हाथ में सावधानी से थांभकर दुर्दान्त अश्व को भी अपने काबू में कर लेता है, वैसे ही लगाम स्वरूप मन को अपने वश में रखता हुआ साधु इन्द्रियरूपी अश्वों को विषयरूप उन्मार्ग में जाने से रोक देता है।

सं. प्र. पू. कि.

ध्यानी मुनि मदोन्मत्त मन रूपी हस्ती को ध्यान व वैराग्य रूपी दृढ़ रस्सी से आत्मा रूपी आलान-स्तम्भ के इतना दृढ़ बांध देते कि जिससे वह उन्मत्त-मनो-हस्ती विषयादि रूप वन या राजमार्ग में दौड़ने के लिए असमर्थ हो जाता है।

इन्द्रियाँ बन्दर के समान चपल हैं। उनको तत्त्वज्ञान रूपी पाश से बाँधकर वैराग्य रूपी पींजरे में बन्द किया जावे तभी उनकी उछल कूद बन्द होती है और शनैः शनैः अनुपम दिव्य सुख का आविर्भाव होने लगता है–विषयों से उदासीनता होती है।

तपरूपी दुर्ग (किले) में निवास करनेवाले साधु का राग, द्वेष, मोह और इन्द्रिय रूपी डाकुओं का गिरोह कुछ भी बिगाड़ करने में समर्थ नहीं होता है। उस दुर्ग के धैर्ययुक्त मति का कोट होता है। चारित्र का बहुत ऊंचा दरवाजा है, और उसके क्षमा और सुकृत कर्म के दो किवाड़ लगे होते हैं। तथा संयम दुर्गरक्षक कोतवाल होता है। इस प्रकार सुरक्षित तपरूपी दुर्ग का आश्रय लेने वाले मुनी के रत्नत्रयरूप धन भंडार को राग द्वेष-मोह इन्द्रिय चोर लूट नहीं सकते हैं।

इन्द्रिय को वश में करने से ही ध्यानसिद्धि होती है:—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥ ११५ ॥ (मूला. अ.)

अर्थ—इन्द्रियों का दमन करनेवाले समीचीन ध्यान में रत हुए महर्षि राग व द्वेष रूप आत्मा के वैभाविक भावों का क्षय करके, मोह रहित होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का मूल कारण राग द्वेष हैं। उनका नाश होने पर सब कर्म सहज में नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हे मुनीश्वरो! राग द्वेष से प्रेरित हुए इन्द्रियरूपी अश्व विषयरूप बीहड़ वन के उन्मार्ग (ऊबड़ खाबड़ मार्ग) में आत्मा को ले जाते हैं। जबतक ये इन्द्रिय-अश्व उन्मार्ग में गमन करते रहते हैं, तब तक आत्मा को शुभध्यान रूपी उत्तम मार्ग प्राप्त नहीं होता है। इसलिए उत्तम-ध्यान रूप सुमार्ग में आत्मा को लेजाने के लिए मन रूपी घोड़ों की लगाम को दृढ़ता से थांभलो तथा मन को विषयों से हटाने के लिए उसको शुभध्यान में स्थिर करने के लिए सबसे प्रथम विषयों से उत्पन्न होनेवाले राग द्वेष को क्षीण करो और व्रत उपवासादि का आचरण करके उद्धत हुई इन्द्रियों का दमन करो। उनको उपवासादि से निर्बल बनाओ। निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों रूपी अश्व को वैराग्य भावना द्वारा स्थिर हुए मन रूपी लगाम के थांभ लेने से विषयों से उदासीनता और शुभध्यान में रति उत्पन्न होती है। आर्तरौद्रध्यान का विनाश होकर शुभध्यान की जागृति होती है। अतः धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में परायण हुए मुनिराज के क्षमादि

दशधर्म तथा रत्नत्रय रूप आत्मीय धर्म प्रकट होते हैं और अष्टकर्मों का क्षय सहज में होने लगता है। जिस वृक्ष का मूल (जड) नष्ट हो जाता है वह वृक्ष कितने कालतक खडा रह सकता है ? अथवा कितने समय तक वह हरा भरा रह सकता है ? अर्थात् उसका शीघ्र भूमि पर पतन होता है और वह अल्प समय मे ही सूखजाता है और वह पुनः भूमि में नही जमता है। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के मूल कारण कषाय राग द्वेष हैं। उनका ध्वंस होने पर सब कर्मों का सहज में ध्वंस होजाता है और फिर वह आत्म-भूमि में कभी नही उत्पन्न होते हैं। अतएव हे मुनिराजो ! इष्ट वियोगादि से उत्पन्न होने वाले आर्त्तध्यान को तथा क्रोधादि कषायों की, उग्रता से उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान को आत्मा के निकट मत आने दो। और धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान का निरन्तर चिन्तन करो। इन शुभ ध्यानों को स्थिर करने के लिए शुक्ल लेश्या को प्रकट करो। यदि तुम इस प्रकार आचरण करने मे दत्तचित रहोगे तो तुम्हारी आत्मा में क्रोधादि कषाय किसी प्रकार के विकार भाव उत्पन्न करने मे समर्थ न होगी।

निश्चल चित्तवाले मुनियों को कषायें दबा नही सकती हैं और न उनके मन को चंचल कर सकती हैं। जैसे कल्पान्त काल की उत्तर दक्षिण पूर्व व पश्चिम की प्रचण्ड वायु सुमेरु को कम्पित नहीं कर सकती है।

हे मुनियो ! यदि तुम यथावत् छह आवश्यकों का पालन व आगमोक्त चारित्र का सम्यक् प्रकार आचरण करो तो प्रतिकूल परिस्थिति भी तुम्हारा कुछ भी बुरा नहीं कर सकती और तुम कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ हो सकते हो।

जो मुनि ससार से भयभीत, विषयों से उदासीन व शरीर से विरक्त है, जिसके हृदय में अभिमान की मात्रा नहीं है, वह मन्द कषायी शास्त्रों का अधिक ज्ञान न होने पर भी भेदविज्ञान के जागृत होने से कर्मों का क्षय कर लेता है। लेकिन उस मुनि के २८ मूलगुण तो अवश्य होने चाहिए। यदि मूलगुण रहित होकर मुनिपद धारण करता है तो वह दृढ कर्मों का बन्धन कर नरक या निगोद में जाता है।

हे मुने ! यदि तुम निर्दोष चारित्र का पालन करना चाहते हो तो प्रासुक निर्दोष आगमानुकूल भिक्षा भोजन करो। वन में या एकान्त स्थान मे रहो। अल्प आहार करो। बहुत भाषण मत करो। दुःख आने पर चित्त में विकार मत उत्पन्न होने दो। निद्रा को जीतो। सब जीवों के साथ मैत्री भाव रक्खो उत्तरोत्तर वैराग्य की वृद्धि करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मेरा स्वरूप है, इनके सिवाय कर्मजन्य भाव शरीरादि मेरे नहीं हैं। ऐसा सतत चिन्तन करो। श्रद्धान पूर्वक सम्यग्ज्ञान सहित जो तपस्या करते है उनके पूर्व कर्मों का क्षय व नवीन कर्मों का संवर होता है। सरागसंयम, शुभ लेश्या तथा सामायिकादि का आचरण करते हुए यदि मृत्यु होतो वह जीव स्वर्गों में जाता है--जैसा कि निम्न विवेचन से स्पष्ट होगा:—

मुनियों के पुलाकादि भेद और उनका वर्णन

श्री भगवान भट्टाकलंकदेव ने राजवार्तिक में नवें अध्याय (सूत्र ४७) में कहा है:—

"पुलाकादयः संयमादिभिः माप्याः ॥४॥ एते पुलाकादयः पंच निर्ग्रन्थविशेषाः संयमादिभिरष्टभिरनुयोगैः व्याख्येया इत्यर्थः"

पुलाक, वकुश, कुशील" निर्ग्रंथ और स्नातक ये पांचों प्रकार के मुनि निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) होते हैं। उनका संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों से व्याख्यान किया जाता है। "तद्यथा—कः कस्मिन् संयमे भवति ?" जैसे कि कौन किस संयम के आराधक होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान करते हैं—

"पुलाकवकुश प्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थयोर्भवति । कषायकुशीला द्वयोः परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराययोः पूर्वयोश्च। निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि सामायिक तथा छेदोपस्थापना संयम के आराधक होते हैं। कषायकुशील मुनि पूर्वोक्त दो संयमों के तथा परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय संयम के आराधक होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक यथाख्यात संयम के ही आराधक होते हैं।

"श्रुत—पुलाक-वकुश-प्रतिसेवनाकुशीलाः उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः। कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु। वकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः।"

अर्थ—पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीन प्रकार के मुनि अधिक से अधिक अभिन्नाक्षर दशपूर्व के धारक होते हैं। अर्थात् उनके नवपूर्वों का पूर्ण ज्ञान तथा दशवें पूर्व का अपूर्णज्ञान होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्व तक के धारक होते हैं। पुलाकमुनि के जघन्य से जघन्य श्रुतज्ञान आचार वस्तु का होता है। वकुश, कुशील, प्रतिसेवना कुशील के कम से कम आठ प्रवचन माता (पांचसमिति व तीन गुप्ति) का ज्ञान होता है। स्नातक मुनि केवली होते हैं। उनके श्रुतज्ञान नहीं होता है।

"प्रतिसेवना—पंचानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगात् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति। वकुशोद्विविधः उपकरणवकुशः शरीरवकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकांक्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरूपकरणवकुशो भवति। शरीरसंस्कारसेवी शरीरवकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन् उत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशील निर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति।"

अर्थ—दूसरे किसी मनुष्यादि के बलात्कार से पुलाक जाति का मुनि पांच मूल गुण (अहिंसादि पंच महाव्रत) और रात्रि-भोजन त्याग इनमें से किसी एक के विपरीत सेवन (विरुद्ध आचरण) कर लेता है। वकुशमुनि के दो भेद हैं—१उपकरण वकुश और २

शरीर वकुश। उनमें से उपकरण वकुश उसे कहते हैं जो उपकरण (कमण्डलु पुस्तकादि) में विशेष आसक्ति रखता है, विविध और विचित्र परिग्रह (पुस्तकादि) से युक्त होता है, विशिष्ट उपकरण की आकांक्षा करता है, तथा उनके संस्कारादि को करता है। शरीर के संस्कार को करने वाला शरीरवकुश होता है। प्रतिसेवनाकुशील उसे कहते हैं जो मूल गुणों की विराधना नहीं करता है किन्तु कभी २ उत्तरगुणों की विराधना कर बैठता है। कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक के किसी प्रकार की प्रतिसेवना (विरुद्धाचरण) नहीं होती है।

"तीर्थमिति—सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु सर्वे भवन्ति।"

अर्थ—सम्पूर्ण तीर्थंकरों के तीर्थ में पुलाकादि सब प्रकार के मुनि होते हैं।

"लिङ्ग—द्विविधं, द्रव्यलिंगं, भावलिंगं च। भावलिंगं प्रतीत्य सर्वे पञ्चनिर्ग्रन्था लिङ्गिनो भवन्ति इति। द्रव्यलिंगं प्रतीय भाज्याः।"

अर्थ—लिङ्ग दो प्रकार का है—१ द्रव्यलिङ्ग और २ भावलिङ्ग। भावलिंग की अपेक्षा से सब पांचों निर्ग्रन्थ लिंगी होते हैं। द्रव्यलिंग की अपेक्षा विविध विकल्प होते हैं।

"लेश्या—पुलाकस्योत्तरास्तिस्रो लेश्या भवन्ति। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि। कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेश्चतस्र उत्तराः। सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नानकयोश्च शुक्लैव केवला भवति। अयोगशैलं प्रतिपन्ना अलेश्याः।"

अर्थ—पुलाक मुनि के पीत, पद्म और शुक्ल ये तीनों शुभ लेश्याएँ होतीं हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्या होती हैं। कषाय कुशील और परिहारविशुद्धि संयमवाले के कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चारो लेश्या होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक (सयोग केवली) के केवल एक शुक्ल ही होती है। अयोगकेवली के कोई भी लेश्या नहीं होती है।

"उपपादः—पुलाकस्य उत्कृष्ट उत्पादः, उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थिति-ष्वारणाच्युतकल्पयोः। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रायस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ। सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्विसारोपम-स्थितिषु। स्नातकस्य निर्वाणमिति।"

अर्थ—पुलाक मुनि मरकर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग मे उत्कृष्ट स्थितिवाले देवों में जन्म लेते हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि आरण व अच्युतस्वर्ग में बाईस सागर की स्थिति वाले देवों तक में जन्म लेते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ मुनि तेतीस सागरकी स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धि तक के देवो मे उत्पन्न होते हैं। उक्त सब (चारों प्रकार के) मुनि कम से कम सौधर्म कल्प में दो सागर की स्थिति वाले देव होते हैं। तथा स्नातक महामुनि नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

"स्थान—असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वं जघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः तौ युगपदसंख्येयस्थानानि गच्छतः। ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशा युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति। ततो वकुशो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते। ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा कषाय कुशीलो व्युच्छिद्यते। अतऊर्ध्वं अकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते। सोऽप्यसंख्येयस्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते। अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोति—एषेया संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति इति।"

अर्थ—कषाय के निमित्त से संयम के असंख्यात स्थान होते हैं। उनमें सबसे जघन्य स्थान पुलाक व कषायकुशील के होते हैं। वे दो असंख्यात स्थानों तक तो एक साथ जाते हैं। पुलाक वहीं रह जाता है। वहां से से आगे कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश असंख्यात संयम स्थानों तक तो तीनों साथ जाते हैं पश्चात् वकुश उनसे अलग होकर वहीं रह जाता है। उसके आगे असंख्यात संयमस्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील अलग हो जाता है और उससे असंख्यात संयमस्थान आगे चलकर कषायकुशील भी रहजाता है। उसके ऊपर अकषाय स्थानों में निर्ग्रन्थ पहुंचता है। वह असंख्यात स्थान आगे जाकर ठहर जाता है। उसके ऊपर एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त करता है। इस प्रकार इन संयमियों की संयम की लब्धि (प्राप्ति) अनन्त गुणीअनन्तगुणी होती है।

भावार्थ—मुनि चारित्र, तप और ध्यान के प्रभाव से कम से कम सौधर्म स्वर्ग में और पुलाक उत्कृष्ट सहस्रार स्वर्ग तक जाते हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील अच्युत स्वर्ग में बाईससागर की आयु वाले देवों तक होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं। मिथ्यादृष्टि भी मुनि-चारित्र व तप का आचरण कर नव ग्रैवेयक तक जाता है और वहाँ पर अपूर्व दिव्य सुख का अनुभव करता है। यदि सम्यग्दृष्टि चारित्र व तपस्या का आचरण करता है तो वह उत्तरोत्तर दिव्य-सुखों का उपभोग करता हुआ निर्वाण पद को पाता है। इसलिए हे मुने! सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र और तपश्चरण तथा ध्यान का आराधन करो। क्योंकि येही संसार के सम्पूर्ण सुखों के देने वाले हैं। इष्ट पदार्थों का संयोग और अनिष्ट पदार्थों का असंयोग करानेवाले हैं। मनोऽनुकूल सुख सामग्री जो कुछ इस लोक में मिलती है उस के ये मूल कारण हैं। चक्रवर्ती की अनुपम विभूति और देवेन्द्र के दिव्य भोगोपभोग इनके सेवन करने से ही मिलतेहैं। इसी प्रकार के सुन्दर और अत्यन्त प्रिय स्वर्गादि के भोग प्राप्त कर निर्वाण की प्राप्ति इन्हीं से होती है। अतः ऐसा सुअवसर पाकर इनके आचरण करने मे दत्त चित्त हो जाओ। किंचिन्मात्र प्रमाद न करो। इसीमें मनुष्य-जन्म की सफलता है।

यही भाव पाहुड़ मे कहा है—

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छुफुल्लसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णाउसवणो णग्गरूवेण ॥ ७१ ॥

अर्थ—जिस साधु का निजस्वभाव रूप धर्म में तथा उत्तम क्षमादि दश लक्षण धर्म में वास नहीं है; वह दोषों का आवास है। तथा इक्षु के फूल के समान है। जैसे इक्षु का फूल फल रहित होता है, और गन्धादि गुण से भी शून्य होता है, वैसे उस साधु का मुनिभेष भी धर्म हीन होने से निष्फल है और क्षमादि गुण रहित है। वह साधु तो नग्न रूप धारण कर नाचनेवाले नट के समान है। अर्थात् नग्न साधु का स्वांग धारण करने वाला बहुरूपिया है।

भावार्थ—जो साधु के गुणों से हीन मुनि मनुष्यों को सम्यक्त्व व संयम-विरुद्ध उपदेश देकर उनको प्रसन्न करता है, तथा अपनी कषाय के पोषण करने में आगम के विरुद्ध लोगों की प्रवृत्ति करता है वह स्वयं नष्ट होता है दूसरों का नाश करता है एवं धर्म के मार्ग को मलीन करता है। जो साधु के गुणों से शोभित है उसीसे निम्नोक्त लिंग कल्प शोभित होता है।

लिंगकल्प के चार भेद

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥ १७ ॥ (मू० स०)

अर्थ—१ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, २ केशलोच करना, ३ शरीर-संस्कार का त्याग, ४ तथा प्रतिलेखन लिंग कल्प है।

भावार्थ—यहाँ पर आचेलक्य शब्द से सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग लिया गया है। यद्यपि आचेलक्य शब्द का अर्थ तो केवल वस्त्र का त्याग करना है तथापि यहाँ पर उपलक्षण से वस्त्रादि समस्त परिग्रह के त्याग का ग्रहण है। आचेलक्य और केशलोच के बारे में मूलगुणाधिकार में विशेष लिखा जा चुका है।

शरीर के संस्कार-त्याग । वर्णन भी वहीं अस्नान (स्नानत्याग) नाम मूलगुण में कर आये हैं, इसलिए यहाँ उनका विवेचन न करके प्रतिलेखन के बारे मे कुछ विशेष लिखते हैं।

प्रतिलेखन (मयूरपिच्छी) का स्वरूप

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ १८ ॥ (मूला० सम०)

अर्थ—जो रज (धूल) और पसीने का ग्रहण न करे, अत्यन्त मृदु (मुलायम—कोमल) हो, जो देखने में सुन्दर प्रतीत हो, नो हल्का हो—ऐसे पांच गुण जिसमें पाये जावे वह प्रतिलेखन प्रशंसनीय माना गया है।

भावार्थ— हे मुने ! तुम्हारे संयम की रक्षा करनेवाला संयम का उपकरण प्रतिलेखन है। जो तुम्हारे पास प्रतिसमय रहना चाहिए ? जिसमे निम्नोक्त पांच गुण पाये जावें वही प्रतिलेखन प्रशंसनीय माना गया है।

(१) रजोऽग्रहण—२ स्वेद का अग्रहण, ३ मृदुता, ४ सुकुमारता, और लघुता।

(१) साधु प्रतिदिन अपने उपयोग मे आने वाले शास्त्रों का प्रमार्जन करता है। निवास करने की वसतिका प्रदेश का पट्ट आदि का प्रमार्जन करता है। उस रजोहरण (प्रतिलेखन) में ऐसा गुण होना चाहिए कि धूल आदि का सम्पर्क होने पर भी वह मलोन न हो ऐसा स्वाभाविक गुण जिसमे पाया जावे वही रजोहरण प्रशंसनीय है और साधु के हाथ में धारण करने योग्य है।

(२) स्वेदका अग्रहण— मुनि के शरीर पर यदि पसीना आ रहा है तो उसको प्रतिलेखन से पोंछना पड़ता है। पसीने से जो नहीं भीगे वही मुनि के ग्रहण करने योग्य माना गया है।

शङ्का—क्या मुनि शरीर के स्वेद (पसीने) को पिच्छी से पोंछते हैं ?

समाधान—मुनि अपने शरीर को किसी वस्त्र से कभी नहीं पोंछते, किन्तु जब मुनि धूप से छाया में या छाया से धूप में आते हैं, उस समय पिच्छी से अपने शरीर को पोंछ कर ही जाते हैं। यदि ऐसा न करें तो छाया के जन्तु धूप के संसर्ग से और धूप से जीवन प्राप्त करने वाले छाया में पहुचने से मरण को प्राप्त हो जावेंगे। अतः मुनि को उचित है कि वह अपने शरीर को कोमल पिच्छी से पोंछ कर छाया से धूप मे और धूप से छाया में जावे।

(३) मृदुल—नेत्र मे फिराने पर भी जो पीड़ा न पहुंचावे ऐसा कोमल प्रतिलेखन उपादेय माना गया है। श्वेताम्बर साधु भेड़ की ऊन का प्रतिलेखन रखते हैं। उसमें यह गुण नहीं पाया जाता है। यदि भूल से वह आंख में लग जावे तो आंख में भारी बाधा पहुचाता है। अतः सूक्ष्म (छोटे-बारीक) जन्तुओं के अति कोमल शरीर को वह प्रति लेखन अवश्य बाधा पहुंचावेगा है। इसलिए वह साधुओं के लिए उपादेय नहीं बताया है। दूसरी बात यह है कि उनमें असंख्य जीव उत्पन्न होजाते हैं। तीसरा दोष यह है कि उसका मूल्य (कीमत) अधिक होता है। अतः वह सर्वथा अग्राह्य माना गया है।

(४) सुकुमारता—जिसमे अपूर्व सुकुमारता पाई जावे। अर्थात् उक्त गुणों के साथ जिसका रूप भी दर्शनीय हो। नेत्रेन्द्रिय व

मन को प्यारा लगनेवाला रूप जिसमें विद्यमान हो वही प्रतिलेखन मुनि के ग्रहण करने योग्य होता है।

(५) लघुता—वह इतना हल्का हो कि जिससे सूक्ष्म जन्तु के शरीर को भी किसी प्रकार की बाधा न पहुंचे। तथा उठाने रखने आदि में सुविधाजनक हो। अत्यन्त वृद्ध तथा अशक्त मुनि को भी उससे मार्जन करने में किसी प्रकार का कष्ट न हो।

उक्त सब प्रकार के गुण मयूरपिच्छी में ही पाये जाते हैं। ऊन आदि के बनाये गये रजोहरण में उपर्युक्त गुण नहीं होते। उनमें मयूरपिच्छ के समान कोमलता नहीं होती, अपने शरीर को भी कठोर प्रतीत होती है। तब अति कोमल सूक्ष्म प्राणियों को तो वह शस्त्रसा प्रतीत होती है। वह धूल-स्वेद आदि से मलीन होजाती है। उसमें दर्शनीय गुण भी नहीं होता। उसमें जीवों की उत्पत्ति होती है। चोरी होजाने का भय लगा रहता है। उसे बाजार में बेचकर-द्रव्य वसूल किया जा सकता है। ऐसे ही और भी अनेक कारण हैं जिनसे उनका प्रतिलेखन मुनियों के संयम की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता, बल्कि बाधक सिद्ध होता है। मयूरपिच्छ में गुण ही गुण हैं। इसके समान अन्य कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जिसमें उक्त पांचों गुण हो और जो संयम का उपकारक हो। इसके चोरी जाने का भी भय नहीं रहता है।

शङ्का—ऊन तो ऐसा पदार्थ है जिसे भेडोंके स्वामी साल में दो बार भेड के शरीर पर से कतरनी द्वारा कतरकर उतार लेते हैं। उस के उतारने से भेड को कष्ट नहीं होता है और मयूर के पिच्छ उतारने से तो मयूर को दुःख होता है; इसलिए ऊन मयूर पिच्छ की अपेक्षा उत्तम है।

समाधान—भेड के शरीर से कतरनी द्वारा ऊन उतारते समय भेड को थोडा बहुत कष्ट अवश्य होता है और मयूरपिच्छ को तो मयूर अपने आप वर्ष मे एक बार कार्तिक मास मे अवश्य छोड़ता है। पुराने पिच्छ उसके स्वयं गिरते हैं और नये आते हैं। ऐसा प्राकृतिक नियम है। जो स्वतः गिरे हुए पंख होते हैं उनसे ही मुनि की पिच्छी बनाई जाती है। अतएव मयूरपिच्छी में कोई दोष नहीं होता। उसके निमित्त मयूर को पीडा नहीं दी जाती है। वह तो स्वयं उसे छोडकर अपने को लघु बनाता है और उसमें आनन्द मानता है। क्योंकि बिना पुराने पिच्छ का त्याग किये नवीन पिच्छ उत्पन्न नहीं होते हैं।

उक्त प्रकार सब दोषों से निर्मुक्त और पांच गुणों से युक्त प्रतिलेखन मयूरपिच्छ के सिवा अन्य कोई नहीं है। इसलिए परम दयालु संयमनिष्ठ निर्ग्रन्थ आचार्यों ने सर्वगुण-सम्पन्न मयूरपिच्छ का ही सर्वश्रेष्ठ संयम का रक्षक प्रतिलेखन स्वीकार किया है।

शङ्का—नेत्र द्वारा जीवों को देखकर उनकी रक्षा कर सकते हैं तो फिर जीवरक्षा के निमित्त मयूरपिच्छ (प्रतिलेखन) की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नेत्र इन्द्रिय द्वारा देख कर चलने फिरने आदि क्रियाओं के करने से जीवों की रक्षा होती है, किन्तु चक्षु इन्द्रिय छोटे छोटे सब जीवो को देखने मे असमर्थ है। उनकी रक्षा के लिए मयूरपिच्छ की अत्यन्त आवश्यकता है। यही कहा है—

सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।
तम्हा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ॥ २० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—संसार मे द्वीन्द्रियादि त्रसजीव व एकेन्द्रिय वनस्पति कायादि स्थावर जीव इतने छोटे२ होते हैं कि जिनका दिखाई देना अत्यन्त दुष्कर है। उनको चर्म-चक्षु देख नहीं सकती हैं। इसलिए उन जीवों की रक्षा के निमित्त साधु को मयूरपिच्छिका अवश्य धारण करनी चाहिए।

भावार्थ—साधु ने सम्पूर्ण जीवो के साथ मैत्रीभाव धारण किया है। उनको किसी प्रकार का कष्ट न देने की प्रतिज्ञा की है। यह उनके दुःख को अपना दुःख समझता है। दूसरे मनुष्यो को भी जीवों की रक्षा का उपदेश देता है। वह साधु जीवों के भेद, स्थान, योनि आदि आदि का ज्ञाता होता है। जो नेत्रेन्द्रिय के गोचर स्थूल जीव होते हैं उनको बचाकर गमनागमनादि क्रिया करता है। किन्तु कितने ही जीव ऐसे छोटे होते हैं जो इन चर्म-चक्षुओं से दिखाई नहीं देते हैं। उनकी रक्षा का उपाय एक मयूरपिच्छिका है। वह इतना कोमल व हल्का उपकरण है कि छोटेसे छोटे जन्तु को भी उससे बाधा नहीं होती है। उस सर्वोत्तम प्रतिलेखन से भी साधु बडी सावधानी से धीरे धीरे हल्के हाथ से प्रमार्जन करता है।

हे मुने! तुम प्रातःकाल नित्यप्रति अपने ज्ञान के उपकरण पुस्तकादि का तथा संयम के उपकरण कमंडलु आदि का तथा अपने निवास स्थान वसतिका प्रदेश का मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करो। तुम्हें मलमूत्र की बाधा दूर करना हो, थूंकना हो तो पहले उस स्थान को नेत्र से भले प्रकार देखकर तथा रात्रि मे उठना बैठना, मलमूत्रादि का त्याग करना अथवा थूंकना, हो तो मयूर पिच्छिका से प्रमार्जन करके उस स्थान को निर्जन्तु करके करो। तुम उठना चाहते हो तो उठने के पहले पॉव रखने की भूमि को, बैठना चाहते हो तो बैठने की भूमि आदि को, सोना चाहते हो तो शयन करने के स्थान को, आगे पांव रखना चाहते हो तो पांव रखने के स्थान को पहले मयूरपिच्छिका से प्रमार्जन करलो। यदि करवट लेना आवश्यक हो, हाथ पांव फैलाना, सुकोड़ना हो तो मयूरपिच्छिकासे उस स्थान का अवश्य प्रमार्जन करो। कमण्डलु आदि उठाना हो तो कमण्डलु आदिको तथा उनको नीचे रखना हो तो उस स्थानको पहले प्रमार्जन करके पश्चात् नीचे रक्खो। कारणवश यदि वसतिका आदि के किवाड़ या खिड़की आदि खोलने या ढकने पड़ें तो बड़ी सावधानी रखो। कभी कभी किवाडों की चौखटों की संधियों में छिपकलियां, मकड़ियां व कसारियां पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे २ जन्तु रहा करते हैं इसलिए उनको देखकर तथा पिच्छी से

प्रमार्जन कर खोलना व बन्द करना चाहिए। इसी प्रकार तुम्हारे शरीर पर खुजली चले या किसी जन्तु के काटने आदि की बाधा प्रतीत हो और यदि तुम उसको न सह सको तो सहसा न खुजलाओ; किन्तु पिच्छी से शनैः शनैः उसे प्रमार्जन करो। तात्पर्य यह है कि मयूरपिच्छी का प्रत्येक क्रिया के पूर्व, जहां उसकी आवश्यकता हो, अवश्य उपयोग करो। इस पिच्छी को आहार करते समय कुछ काल के लिए दूर रखो। शेष सब कामों में उसको सदा निकट रखो। एक क्षण के लिए भी उसे अपने पास से अलग मत करो। सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित स्थान में एक ।र भी यदि तुम को चलना पड़े तो पिच्छी को छोड़ कर मत चलो। उठो तब पिच्छी को हाथ में तथा बगल में दबा कर चलो व उठो।

शंका—मयूर की पिच्छी से जीव जन्तुओं को हटाने पर उन जीवों को बाधा होती है, इसलिए उसके धारण करने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—मयूर की पिच्छी के अग्र भाग इतने कोमल होते हैं कि आँखों के अन्दर फिराने पर भी पीड़ा नहीं होती है। आखों को भी सुहावने लगते हैं। तब उनसे जीवों को बाधा कैसे हो सकती है ? जीव जन्तुओं की रक्षा करनेवाला यह अद्वितीय उपकरण है। उसका धारण करना साधु के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रतिलेखन जीवों के हृदय में विश्वास उत्पन्न करनेवाला है। अतएव यह साधु के लिए सबसे अधिक आवश्यक उपकरण है। इस प्रकार इसका ग्रहण करना साधुके लिए युक्ति और आगम से परमावश्यक सिद्ध होता है। जिस प्रकार आहार की शुद्धि पर ध्यान रखना संयमी का परम कर्त्तव्य है, उसी प्रकार उपकरणों की शुद्धि पर ध्यान रखना भी परम कर्त्तव्य माना गया है। अतः संयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छिका होना आवश्यक है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

'मुनि इन चार लिङ्गों को धारण करके चारित्र का अनुष्ठान (आचरण) करते हैं। इनको धारण किये विना मुनि पूर्णरूप से चारित्र का आराधन करने में समर्थ नहीं हो सकता, इसलिए इनका धारण करना मुनिमात्र के लिए परमावश्यक है। आचेलक्य (नग्नपना) तो स्वाभाविक चिह्न है। माता के पेट से बालक नग्न निकलता है, उस समय उस शरीर पर बाल के अग्रभाग मात्र भी कोई वस्त्रादि परिग्रह नहीं होता है। केशलोच सद्भावना प्रकट करने वाला चिह्न है। तथा शरीर के संस्कार का त्याग करने से वैराग्य भाव प्रकट होता है। जिसको शरीर से राग नहीं होता है वही उसको मैला कुचैला धूल से धूसरित देखकर भी उसको स्वच्छ नहीं करता है। तथा जीवों की रक्षा करने के लिए मयूरपंख की पिच्छी का उपयोग है ही। इस प्रकार मुनिलिंग के चार भेद बताये गये हैं।

सिद्धान्तों में दश प्रकार का श्रमण कल्प वर्णन किया गया है—

अच्चेलक्कुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥ (मूला० स०)

अर्थ—१ आचेलक्य अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्रादि परिग्रह का त्याग, २ औद्देशिक (उद्दिष्ट) भोजनादि का त्याग, ३ शय्याधर वस-

तिका के स्वामी के घर के अहार का त्याग, ४ राजपिण्डत्याग, ५ कृति कर्म, ६ व्रतारोपण, ७ ज्येष्ठपने (बड़प्पन) का विचार, ८ प्रतिक्रमण, ९ स्थितिकल्प (एक मास ठहरना) और १० पर्या अर्थात् मुनि की निषद्यका जहाँ हो या पंच कल्याणक जिन स्थानों पर हुए हों उन स्थानों की यात्रा करने को पर्या स्थिति कल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल में चार मास पर्यन्त एक जगह ठहरने को पर्या कहते हैं। इस प्रकार मुनिकल्प (मुनि व्यवहार) दश प्रकार का है।

उक्त भेदों का विशेष वर्णन पहले मूलगुणाधिकार के आचेलक्यादि प्रकरण में तथा समाचाराधिकार में आचार्य के ६३ गुणों के अवसर पर कर आये हैं।

भाव श्रमण बनो

निक्षेप की अपेक्षा श्रमणों के चार भेद किये जा सकते हैं—(१) नाम श्रमण, (२) स्थापना श्रमण, ३ द्रव्य श्रमण और ४ भाव श्रमण। इन चार निक्षेपों मे से आदि के तीन निक्षेप हेय हैं। शेष भावनिक्षेप ही उपादेय है। क्योंकि नामादि तीन निक्षेपों से जीव की इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। उसमे वास्तविक पूज्यतादि लानेवाला भाव निक्षेप है। किसी का मुनि या साधु नाम रख लेने से वह मुनि का गौरव नहीं पा सकता। किसी विषयासक्त या परिग्रह धारक व्यक्ति में मुनि की स्थापना करलेने से भी कोई लाभ नहीं। द्रव्य मुनि का भी वह महत्व नहीं। यदि स्व-पर का कोई लाभ है तो वह भाव मुनि बनने से ही है।

शंका—आधुनिक दिगम्बर मुनियों में पुरातन मुनियों की स्थापना हो सकती है या नहीं ? यदि हो सकती है तो जीव में दूसरे जीव की स्थापना हो गई और आपने इसका पहले निषेध किया है सो कैसे ?

समाधान—पुरातन मुनियों की आधुनिक मुनियों में स्थापना करके उनके समान उनको समझ कर व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है। मुनि की पूज्यता उसके गुण के आश्रित है। यदि उसमें अठाईस मूलगुण हैं तो वह पूज्य है और यदि उन में से एक भी कम है तो वह पूज्य नहीं है। केवल नग्नरूप मे पूज्यता की कल्पना करने पर नग्न रूप धारण करने वाला बहुरूपिया भी पूज्यता का अधिकारी बन जावेगा। अतः पुरातन मुनियों की आधुनिक साधुओं मे कल्पना करके गुण न होने पर भी उनको पूज्य समझना मिथ्यात्व को बढ़ाना है। क्या किसी अल्पज्ञ संसारी जीव में भगवान् महावीरादि की कल्पना हो सकती है ? जैसे तीर्थंकरादि की स्थापना किसी व्यक्ति विशेष में नहीं हो सकती, वैसे ही प्राचीन काल के मुनीश्वरों की स्थापना आधुनिक साधुओं में भी नहीं हो सकती है।

हे मुनियो ! तुम भावश्रमण बनो। अठाईस मूलगुणों का भंग मत होने दो। भिक्षाशुद्धि पर पूर्ण ध्यान दो। क्योंकि यह व्रत, शील व तप का आधार है। भिक्षाशुद्धि का विचार किस रीति से किया जाय इस विषय में निम्न उल्लेख पर ध्यान देना चाहिए।

सं. प्र.

पू. कि. ५

भिक्षा शुद्धि कब होती है ?

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं ।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण ॥ ५२ ॥
णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं ।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे ॥ ५३ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—जो प्रासुक भिक्षा-भोजन नवधा भक्ति युक्त दातार के द्वारा दिया गया हो, उसमें साधु नवकोटि से शुद्धि की गवेषणा करे। यह भिक्षा-अन्न मन-वचन-काय द्वारा कृत, कारित व अनुमोदित तो नहीं है ? तथा उसकी प्रासुकता का विचार करे । इसमें किसी अप्रासुक द्रव्य का सम्मेलन या संयोग तो नहीं हुआ है, तथा कुत्सादि दोषोंवाला तो नहीं है । इसमे दुर्गन्धादि दोष तो नहीं है । इसकी तथा एषणा शुद्धि की, उद्दिष्टादि दश दोष, चौदह मलदोषो के अभाव का तथा चेत्र काल भाव और द्रव्य प्रमाण की जांच करके सम्यग्दर्शनादि की रक्षा और क्षुधा के उपशमन करने के लिए उस आहार का ग्रहण करे ।

भावार्थ—वीतरागी साधु उस आहार का ग्रहण करते हैं, जो दाता के द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया हो, प्रासुक हो । शरीर की रक्षा करनेवाला हो, जो नवकोटि से शुद्ध हो, जो साधु के निमित्त बनाया गया हो, छियालीस दोषों से विमुक्त हो, सड़ा गला दुर्गन्धमय न हो, जिसके द्रव्य चेत्र काल और भाव की परीक्षा करली गई हो । अर्थात् जिस भोजन का द्रव्य शुद्ध हो, पवित्र चेत्र में तैयार किया गया हो, योग्य काल में बनाया गया हो, जिसके गुणो में व स्वरूप में विकृति उत्पन्न न हुई हो, जो एषणा समिति से शुद्ध हो, देखने में भी सुन्दर हो, उसकी सर्व प्रकार से शुद्धि का ज्ञान होने पर मुनि रत्नत्रय की सिद्धि के निमित्त क्षुधा का उपशमन करने के लिए प्रमाण सहित आहार का ग्रहण करे ।

हे मुने ! रत्नत्रय को निर्मल बनाने के लिए शंकादि दोषों का परिहार करो और अहिंसादि व्रतों का पूर्णतया पालन कर चारित्र को शुद्ध बनाओ । तथा द्रव्य चेत्र काल व भाव के आश्रय से दोष लगे हों तो उनका निवारण करने के लिए गुरु महाराज के निकट जाकर विनयपूर्वक आलोचना करो और उनके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का आचरण कर लौकिक-शुद्धि का पालन करो । लौकिक और लोकोत्तर दोनों शुद्धियों से आत्मा को निर्मल करो ।

हे मुने ! जिस चेत्र में क्रोधादि कषाय जाग उठती हों, जहां भक्ति और आदर की हीनता प्रतीत हो, जहां पर धृष्टता व मूर्खता

की प्रबलता हो, जहां चक्षुरादि इन्द्रियों को ललचाने वाले-राग बढ़ानेवाले विषयों की प्रचुरता हो, चित्ताकर्षक शृंगार रस की रसिक स्त्रियों का समागम हो अर्थात् जिस क्षेत्र में स्त्रियां शृंगार रसप्रिय हों, उनके आकार तथा अंगविकार विषय के पोषक हों, उनमें हाव भाव नृत्य गीतादि एवं हास उपहास करने की आदत भी हो गई हो, जिस क्षेत्र में साधुओं को पद पद क्लेशों को सहने के लिए बाध्य होना पड़ता हो, तथा जो क्षेत्र उपसर्गों से भरा हो, ऐसे स्थानों से साधु सम्यग्दर्शनादि को शुद्ध रखने के लिए दूर रहे—उस जगह न ठहरे।

शंका—क्या मुनि आदर के भूखे होते हैं? यदि नहीं होते तो आदर-सम्मान रहित क्षेत्र के परित्याग का उपदेश क्यों दिया गया है?

समाधान—मुनि आदर-अनादर को समान समझते हैं, किन्तु जिस स्थान में इतर जनों द्वारा दिगम्बर मुद्रा की अवहेलना होती है, धर्म पर प्रीति का अभाव होता है वहाँ पर मुनि को नठहरना चाहिए। यदि कोई मुनि हठ करके ठहरता है तो वह मुनिधर्म का तिरस्कार करनेवाला है तथा जिनाज्ञा को उल्लंघन करने के कारण मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न—तो मुनि को कैसे स्थान में ठहरना चाहिए?

उत्तर—जो मुनि धीर वीर है उसको पर्वतों की गुफाओं में या श्मसान में या सूने घर व मठादि में अथवा वृक्षों की कोटर (पोल) में ठहरना चाहिए, क्योंकि ये स्थान वैराग्य की वृद्धि करने वाले और चारित्र का पोषण करने वाले हैं। किन्तु निम्नोक्त देश नगरादि में अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाले पर्वतादि में भी साधु निवास न करे। जैसा कि कहा है—

> णिवदिविहीणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
> पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥ ६० ॥
> णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चेट्ठेदुं।
> तत्थ णिसेज्ज उव्वट्टण सज्झायाहार वोसरणे ॥ ६१ ॥ (मूल० स०)

अर्थ—जिस क्षेत्र का कोई राजा न हो। अर्थात जिस देश, नगर, गाँव या घर का कोई स्वामी न हो, वहाँ के रहने वाले सब मनुष्य स्वच्छन्दता से अपनी मनमानी प्रवृत्ति करते हैं। तथा जिस देश नगर गाँव या गृह का स्वामी दुष्ट स्वभाव का हो, दूसरों को सताने और धर्म की विराधना करने में जिसको संतोष उत्पन्न होता हो, जिस देश में शिष्यमण्डली न हो, धर्मोपदेश को सुनने वाले न हों, शास्त्रों का अध्ययन करने वाले न हों, व्रतों के रक्षण करने में तत्पर न हों तथा जिन के मन में मुनिधर्म की तथा श्रावकधर्म की दीक्षा

ग्रहण करने की भावना भी न हो, जहाँ संयम में अतिचार अधिक लगने की संभावना हो, आत्म-हित का अभिलाषी साधु ऐसे सब स्थानों
का परिहार करे।

निर्दोष चारित्र के आराधक मुनियों और आर्यिकाओं को ऐसी वसतिका में कभी नहीं रहना चाहिए-जिसमें शयन करने
की आगमोक्त योग्यता न हो, बैठने की योग्यता न हो, जहाँ से भिक्षा के लिए जाने में बाधा उपस्थित होती हो। स्वाध्याय करने में विघ्न
उपस्थित होता हो, तथा अन्य शरीर सम्बन्धी बाधा दूर करने में अनेक प्रकार आपत्ति प्रतीत होती हो, जहाँ रहने से लोकापवाद होता हो
अथवा व्रत भंग होने का सन्देह हो, अपने चारित्र को उज्ज्वल रखनेवाले साधु व आर्यिका ऐसे स्थान का यत्नपूर्वक परित्याग करदे।

क्योंकि उत्तम वस्तु के संसर्ग से सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है और निन्दनीय वस्तु के सम्पर्क से सम्यग्दर्शनादि में मलीनता
उत्पन्न हो जाती है। कभी २ उनका सर्वनाश भी हो जाता है। जैसे कमल के संसर्ग से जल का कुंभ सुगन्धमय और शीतल हो जाता है
और अग्नि आदि द्रव्य के संयोग से शीतल सुगन्धित जल-कुंभ उष्ण और बेस्वाद हो जाता है एवं पत्थर आदि के संयोग से उसका सर्व
नाश हो जाता है। इसलिए साधुओं को कुत्सित संसर्गों का त्याग करना चाहिए। उन कुत्सित (निन्दनीय) संसर्ग का वर्णन करते हैं।

> चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंस पडिसेवी।
>
> गारव कसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो ॥ ६४ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—जो चण्ड स्वभाव का हो, विष वृक्ष के समान जिस मे दूसरों के प्राण हरण करने वाली रुद्र प्रकृति हो, जो अत्यन्त
चंचल स्वभाव वाला हो, जिसके चित्त मे स्थिरता न हो। जिसके पेट मे कोई बात टिक नहीं सकती हो, जो चारित्र के पालन में आलसी
हो, तथा जो पीठ पीछे निन्दा करनेवाला हो, चुगलखोर हो, अभिमान से भरा हो, अपने को सब से महान् समझ कर दूसरे की अवहे-
लना करता हो, जिसकी प्रकृति क्रोध मय हो, जो बात बात पर कोपित हो जाता हो, जो दुराशय हो-ऐसे साधु या अन्यजन का
संसर्ग त्याग करने योग्य है।

हे मुने! जो साधु रोगी, दुर्बल, व्याधि-पीड़ित आदि साधुओं का वैयावृत्यादि द्वारा उपकार नहीं करता है, जो पांच प्रकार के
विनय से विमुख है, अर्थात् अविनीत—उद्दण्ड है, जो कठोर वाणी का प्रयोग करता करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, दिगम्बर
मुद्रादि का धारक होने पर जिसमें वैराग्य नहीं है, राग भाव का उत्कर्ष है-ऐसे साधु का सम्पर्क सर्वथा त्याग करने योग्य है।

जो कुटिल स्वभाव का है, दूसरे को संताप देने वाला है, पर दोष का प्रकाश करने में, आनन्द मानता है, मारण उच्चाटन

वशीकरण मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र का प्रयोग करनेवाला है, दूसरे को धोखा देने वाले इन्द्र जाल कोकशास्त्र, वात्स्यनादि शास्त्रों में प्रीति रखता है इन दुर्गुणों से युक्त चिरदीक्षित साधु भी सर्प के समान त्याग देने योग्य है। हे मुने! ये दुर्गुण पाप-श्रमण में पाये जाते हैं। क्योंकि वह गुरु के अंकुश रहित अकेला रहकर अनेक दुर्गुणों का निवास स्थान बन जाता है और पाप-श्रमण की संज्ञा पाता है।

पाप-श्रमण का लक्षण

आयरियकुलं मुचा विहरदि समणो य जादुएगागी।
ण य गेण्हदि उवदेशं पावस्समणोत्ति वुचदि दु ॥ ६८ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—जो मुनि आचार्य संघ को छोड़कर अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता है, मनमाना उपदेश देता है या स्वच्छन्दता पूर्ण वचनालाप करता है, भला बुरा सोचा करता है, किसी के हितकर उपदेश को नहीं सुनता है, किसी की शिक्षा की परवाह नहीं करता है। ऐसा बिना नकेल के बैल के समान अथवा बिना अंकुश के मदोन्मत्त हस्ती के समान स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनेवाला संघभ्रष्ट एकलविहारी साधु पाप-श्रमण माना गया है।

जो दुर्वृत्ति साधु अपने गुरु की आज्ञा की अवहेलना कर, अपनी उद्दण्डता से उनके अंकुश की परवाह न कर आचार्य बनने की लालसा से मदमस्त हाथी के समान इधर उधर विचरने लगता है, तथा एक दो अपने समान साथियों को इकट्ठा कर आचार्य बन बैठता है-वह विवेक हीन साधु पाप-श्रमण है। वह पापमय प्रवृत्ति करके अपना नाश तो करता ही है और उनकी संगति करनेवाले संयमियों तथा श्रावकों को भी उन्मार्ग में लगाता है। जैसे आम का वृक्ष नीम के सम्पर्क में आकर कडुवे फल देता है। उसी प्रकार संवेद भाव (संसार से भीति) रहित, धर्मानुरागहीन, शिथिलाचारी, साधु के कर्त्तव्यों से विमुख; दुराशय साधु का संसर्ग मत करो। उसकी संगति आत्मा को श्रद्धा और चारित्र से च्युत कर देती है।

नगर के मध्यभाग से निकले हुए नाले समान दुर्जनसाधु के वचन कूडे कर्कट के समान निकला करते हैं। जैसे नाले में बहकर आया हुआ मलमूत्र कूडा कर्कट दुर्गन्ध को फैलाता है वैसे ही दुर्जन साधु आगम विरुद्ध वचनों का उच्चारण कर समाज में अधर्म और दुराचार का विस्तार करता है। ऐसे साधु से सदा डरते रहना चाहिए। क्योंकि उसके वचन-भुजङ्ग आत्मा को डसते हैं। उसके विष की प्रभाव अनन्त भव तक बना रहता है; अतः वह भुजंग (सर्प) से भी महा भयानक है। यद्यपि उसके वचन घोड़े की लीद समान ऊपर से चिकने चुपड़े होते हैं, बगुले के समान सुन्दर प्रतीत होते हैं, भुजङ्ग के भोग (शरीर) के समान कोमल मालूम होते हैं, किम्पाक फल के समान

आपात-रमणीय और मीठे होते हैं, किन्तु अन्त में आत्मा के घातक होते हैं। आत्मा को अनाचार रूप दुर्गन्ध से मलीन करनेवाले होते
है। विष के समान आत्मा के घातक हैं।

हे मुने! कोई चिरकाल का दीक्षित होने से श्रेष्ठ नहीं माना गया है। साधु की श्रेष्ठता सच्चे वैराग्य से होती है। बहुत से साधु
चिरदीक्षित होने पर भी मोक्षमार्ग से वञ्चित देखे जाते हैं। वैराग्यपरायण तीन दिन का दीक्षित अथवा अन्तर्मुहूर्त्त का दीक्षित भी मोक्ष
का अधिकारी होता देखा गया है। अतः आत्मा में वैराग्य भावना को दृढ़ बनानेवाले परम विरक्त साधुओं का सत्संग करो। कई साधु
ऐसे देखे जाते हैं जिनके उपदेश परम वैराग्य का निरूपण करते हैं परन्तु उनके अंतःकरण लोभ और मान से गन्दे और मोक्षमार्ग से
विमुख होते हैं। इसलिए सहसा किसी साधु को आत्मा के लिए हितकर मत समझो। उसके निकट सम्पर्क में कुछ काल रहो। उसके विचारों
और कार्यों का सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण करो। तब तुम्हें प्रतीत होने लगेगा कि उसका बाह्यरूप घोड़े की लीद के समान सुहावना है और
उनका अन्तरंग कितना गन्दा और तुच्छ है। वे ऊपर से बगुले के समान सुन्दर दिखाई देंगे और उनके काम अति निन्दनीय
और घृणा के योग्य प्रतीत होंगे। इसलिए जिन के संसर्ग में तुमको अपने जीवन को सफल बनाना है अपने वैराग्य भाव को दृढ़ करना है–
चारित्र को उन्नत बनाना है–तो उनकी जाँच में असावधानी मत करो।

हे मुने! देखो कर्मबन्ध के कारण आत्मा के परिणाम हैं। इसलिए अपने आत्मपरिणामों को उज्ज्वल बनाये रखो। जो साधु
दिखावे के लिए-अपने को उत्तम प्रकट करने के लिए-दूसरों के सामने तो अपने मन वचन काय की उत्तमता से प्रवृत्ति करता है, और जनता से
पृथक् होते ही–एकान्त में–उनकी कुप्रवृत्ति करता है। मन में निन्दनीय और तुच्छ विचारों को जन्म देता है। संकल्प और विकल्प रूपी जल
तरंगों मे उसकी मनरूप नौका गोते खाने लगती है। अभिमान, लोभ और माया भरे महान असत्य वचनों का उच्चारण करता है और काय से
जीवरक्षा रहित अज्ञानमय क्रियाएँ करता है वह साधु अपना भी विनाश करता है और उसके सम्पर्क में रहने वाले संयमियों और श्रावक
श्राविकाओं की भी मिथ्यामार्ग में प्रवृत्ति होने लगती है। इसका कारण भावों की मलीनता ही है। इसलिए प्रतिसमय तुमको अपनी आत्मा का
निरीक्षण करते रहना चाहिए। जो साधु विवेक-ज्ञान (भेद ज्ञान) रूपी दीपक लेकर अपने अन्तःकरण में सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्ररूपी
मार्जनी (बुहारी) से मिथ्यात्व, असंयम व कषाय रूपी कूड़े कर्कट को साफ करता रहता है उसकी आत्मा अल्पकाल में परम पवित्र बन जाती
है और उसके द्वारा ही संसार के जीवो का कल्याण होता है। वह शीघ्र मुक्ति-पद का अधिकारी होता है और उसके संसर्ग से अन्य जन भी
मुक्तिपथ के पथिक बनते हैं। इसलिए तुमको मिथ्यात्व असंयम और कषाय का सर्वथा त्याग कर अपनी आत्मा का प्रतिक्षण निरक्षण करते
रहना चाहिए।

क्योंकि आत्मा के परिणामों के निमित्त को पाकर योग द्वारा प्राप्त हुए कार्माण वर्गणा के पुद्गल, कर्मरूप परिणमन करते हैं।

स. प्र.

जो आत्मा ज्ञानरूप परिणत होता है। जिसको भेद-विज्ञान जागृत हो गया है, वह आत्मा निरन्तर आत्मा का निरीक्षण करता रहता है, इस लिए वह कर्म के बन्धन से बद्ध नहीं होता है। अर्थात् उसके कर्मों का बन्धन नहीं होता है। अतः चारित्र को ज्ञान दर्शन पूर्वक कहा है।

हे मुने ! जो साधु मिथ्यात्व, असंयम व कषाय को हृदय में स्थान नहीं देता है, उसके ज्ञान व चारित्र की वृद्धि होती है। उसका चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है और चित्त की एकाग्रता को ही ध्यान कहते हैं। उसका शान्त-चित्त स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होता है। वह आगम का वाचन, पृच्छन, चिन्तन, स्मरण करता है। तथा वाचन-चिन्तनादि से उपलब्ध हुए तत्त्व को, आगम के रहस्य को, उपदेश द्वारा जनता मे प्रकट करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति करनेवाला महात्मा संसार समुद्र से शीघ्र पार होता है और उसके सम्पर्क में रहने वाले पुण्यवान पुरुष भी संसार सागर से निकलने का साधन सन्मार्ग रूपी नौका प्राप्त करलेते हैं।

हे मुने ! ज्ञान सन्मार्ग का प्रदर्शक है और तपश्चरण आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। तपश्चरण में भी स्वाध्याय सब से मुख्य है। क्योंकि आत्मा को तपश्चरण सरीखे कठोर कार्य में स्थिर रखने वाला विवेकज्ञान है और वह ज्ञान स्वाध्याय से, सूत्र (आगम) का अभ्यास, मनन चिन्तन से उपलब्ध होता है। कहा भी है—

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि जहा पमाददोसेण॥ ८० ॥ (मूला० स०)

अर्थ—डोरे मे पिरोइ हुई सूई प्रमाद से गिर जाने पर भी जैसे गुम नहीं सकती—अर्थात् कूड़े कचरे में गिरी हुई सूक्ष्म सूई सूत्र (डोरे) के साथ होने से पुनः मिल जाती है—वैसे ही आत्मा के प्रतिकूल अनेक कारणों के उपस्थित होने पर, तपश्चरणादि कठोर क्लेशजनक आचरण से आत्मा में चंचलता आजाने पर उसको सन्मार्ग में स्थिर करने वाला सूत्र (आगम) का स्वाध्याय है। जो कोमल प्रकृतिवाला मनुष्य दुष्कर वृक्षमूलादि योग अथवा मासोपवास कायक्लेशादि तप करने में असमर्थ है, वह यदि शुद्ध-चित्त से कषायादि का त्याग करके निरन्तर आगम के स्वाध्याय में तल्लीन रहता है तो कर्मों का बहुत शीघ्र क्षय करलेता है।

हे मुने ! शास्त्रस्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि करने के लिए तुमको निद्रापर विजय प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि निद्रा मनुष्य को अचेत (विवेकहीन) बना देती है। निद्रा में साधु विवेक-शून्य होकर अनेक दोषों का सेवन करता है। निद्रा और आहार बढ़ाने से बढ़ते और घटाने से घटते हैं। जो निद्रा के वश रहता है—उसको प्रमाद व आलस्य घेरे रहता है उसका मन न तो स्वाध्याय में लगता है और न ध्यान में लगता है। इसलिए शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए और चित्त को एकाग्र करने के लिए निद्रा-विजयी बनो। निद्रा-विजयी साधु जीवाजीवादि तत्त्वों का नयप्रमाण से सूक्ष्मज्ञान प्राप्त करता है। कर्मों के बन्धन और मोचन के कारणों को जानकर ध्यान द्वारा कर्म-बन्धन

की गुत्थियों को सुलझाता है। जैसे लक्ष्यवेधी मनुष्य धनुष पर सीधा वाण रखकर अपने दोनों नेत्रों को अर्धनिमीलित (आखें मूंदकर) वाण को लक्ष्य से मिलाता है, इसी प्रकार प्रमाद रहित साधु शुभध्यान के लिए अर्धनिमीलित नेत्र होकर अपने चित्त को एकाग्र करके आत्मा में लगाता है।

हे मुने ! संसार और भोगों से विरक्त होकर तुम ज्ञानावरणादि कर्मों का आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बन्ध का, आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्मों के विश्लेषण के उपायो का तथा जीव और पुद्गलादि अजीव पदार्थों तथा उन पर्यायों के भेद प्रभेदों का चिन्तन करो।

हे साधो ! इस जीव ने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भव परिवर्तन और भावपरिवर्तन अनेक बार किये हैं। किन्तु श्रीजिनेन्द्रदेव कथित धर्म का आश्रय इस को नहीं मिला है। यदि एक बार भी धर्म का अंकुर आत्मा मे उदित हो जाता तो उसको इतने असह्य दुःख न भोगने पड़ते। अब काललब्धि आदि के योग से यह सुअवसर उपलब्ध हुआ है। यदि इसको तपश्चरण और ध्यान के बिना खो दिया तो फिर पछताने के सिवा कुछ भी हाथ में न रहेगा। इत्यादि प्रकार से नित्य प्रतिसमय चिन्तन करो।

देखो, ये संसारी अज्ञानवश मोहाग्नि से झुलस रहे हैं, अत्यन्त असह्यदुःख का अनुभव करते हुए भी विषय भोगसे अधिकाधिक सम्बन्ध करते हैं। और अनन्त संसार से निकलने के द्वार को मोहान्ध होकर खो रहे हैं। संसार में धीर वीर साधु ही हैं जो अनेक उपसर्ग परीषहों को सहकर इस असार संसार से विरक्त होकर आत्म-कल्याण के मार्ग में दत्तचित्त है। हे मुने ! यह शुभ-संयोग तुमको बड़े सौभाग्य से मिला है ; अत; तुम शुभध्यान मे सदा रत रहकर कर्मों के जाल को तोड़कर अपनी निजनिधि को प्राप्त करो।

हे मुने ! यदि तुम ध्यान में रत होना चाहते हो तो आरंभ और लोभादि कषाय का परित्याग करो। जैसे नेत्र सूक्ष्मतम कचरे को भी नहीं सह सकता, उसको बाहर निकलने पर ही उसे चैन मिलता है। जैसे समुद्र अपने भीतर तृणादि कचरे को स्थान नहीं देता है, ऊपर निकाल फैंकता है। इसी प्रकार ध्यान भी आरम्भ और लोभादि कषाय को अपने निकट नहीं आने देता है। अर्थात् आरम्भ और कषाय के सद्भाव मे ध्यान की सिद्धि असम्भव है। जब आत्मा निष्कषाय होता है, उसके अंतःकरण में कषाय की मलीनता नहीं रहती है–तब ही ध्यान की सिद्धि होती है।

हे मुने ! यदि तुम ो संसार के दुःखो से छुड़ाने वाले चारित्र का आराधन करना है तो आत्मा मे कषाय को उत्पन्न मत होने दो। क्योंकि कषाय के अभाव को ही चारित्र कहते हैं। जो कषाय के वशीभूत हो, वह असयमी है। जिस समय कषाय उपशान्त रहती है–अर्थात् कषाय का उदय नहीं हो ा है उस समय आत्मा–सयमी होता है।

हे साधो ! शिष्यादि में मोह उत्पन्न करना दुर्गति का कारण है। क्योंकि उससे मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। कारणों से दोष पैदा होते हैं और कारणों के अभाव से दोषों का अभाव होता है।

पच्चयभूदा दोसा पच्चय भावेण णत्थि उप्पत्ती ।
पच्चभावे दोसा णस्संति निरासया जहा बीयं ॥ ९३ ॥ (मूला० स०)

अर्थ—कर्म-बन्ध के कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह से रागद्वेषादि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। रागद्वेषादि के कारणभूत मोह के अभाव से उन दोषों का प्रादुर्भाव नहीं होता है। इसलिये कारणभूत शिष्यादि सम्बन्धी मोह के अभाव से मिथ्यात्व, असंयम, कषाय रागद्वेषादि दोष स्वयं नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि आश्रय के अभाव से दोष निर्मूल होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे बीज में अंकुर की उत्पत्ति पृथ्वी-जल-पवन-सूर्यकिरणों के संयोग से होती है। यदि पृथ्वी-जल-पवनादि का संयोग न मिले तो बीज अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता है। जिन कारणों के सद्भाव से जो दोष होते हैं उन कारणों का अभाव होने पर उनके फल (कार्य) स्वरूप उन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है।

अतएव हे साधुओ ! परिग्रह के कारणभूत क्रोध मान माया लोभ हैं। क्योंकि लोभादि के होने पर ही परिग्रहादि होते हैं और लोभादि का विनाश होजाने पर परिग्रहादि नहीं होते हैं। इसलिए सब साधुओं को लोभादि छोड़ना चाहिए जिससे परिग्रह की इच्छा उत्पन्न ही न हो।

हे साधो ! इस संसार में जीव जो नरकादि पर्यायों को प्राप्त करते हैं, उसका मूलकारण राग द्वेष और मोह है। राग द्वेष व मोह के वशीभूत होकर ही जीव नरकादि कुयोनियों में भटकता है। संसार में रागद्वेष मोह ही महाशत्रु हैं। इसलिए वैराग्य ज्ञान द्वारा पदार्थों से मोह को हटाओ। परमविरक्ति धारण करो। वही शिव सुख को देने वाली है।

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भे अत्थाणकारणं जीवो ।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥ ९६ ॥
जिब्भो वत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादि संसारे ।
भत्तो अणंतसो तो जिब्भो वत्थे जयह दाणिं ॥ ९७ ॥

अर्थ—यह जीव इस संसार में अर्थ के निमित्त-धन घर भूमि आदि के लिये, अपने जीवन के लिए-आत्म रक्षा के लिए, जिह्वा इन्द्रिय के विषय की प्राप्ति के लिए तथा उपस्थ इन्द्रिय के विषय के लिए-काम सेवन के लिए अपने प्राणों का बलिदान करता है, स्वयं अन्य प्राणियो के प्राणो का हरण करता है तथा दूसरों से हरण करवाता है।

इन चारों में भी रसनेन्द्रिय और मैथुन इन्द्रिय अति बलवान हैं। इनके निमित्त इस जीव ने अनन्त बार इस संसार में घोर दुःख सहे हैं। इसलिए इन दोनों इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करो।

भावार्थ—यह अज्ञानी जीव सांसारिक विषयों मे सुख समझकर उनकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता है। कभी धन घर गाय भैंस क्षेत्रादि भूमि की प्राप्ति व रक्षा के लिए चौर शत्रु आदि से लड़ता है। रणचण्डी के चरणो में अपने प्राणों की बलि चढ़ाता है। कभी अनेक निरपराध व दीन क्षीण प्राणियों के प्राण लेता है। अपने जीवन की रक्षा के लिए अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करता है। अन्यायमार्ग का अनुसरण करता है। असहाय दीन जीवो पर अत्याचार करता है। जीवों के आहार संज्ञा इतनी तीव्र होती है कि जिसके वशीभूत हुआ प्रत्येक जीव रात दिन आहार की खोज में लगा रहता है। छोटे जन्तु से लेकर बड़े से बड़ा प्राणी पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए क्या २ अनर्थ नहीं करता ? एक जन्तु दूसरे जन्तु का भक्षण करता है। मनुष्य भी भोजन की लालसा के वशीभूत होकर भक्ष्य अभक्ष्य का विचार नहीं करता है। मैथुनइन्द्रिय के वश जीव अन्धा सा हो जाता है। विवेकी मनुष्य भी कामातुर होकर कुल, जाति, व संयमादि को भूल जाता है।

हे मुने ! तुम स्पर्शनेन्द्रिय को जीतने के लिए पूर्ण सावधान रहो। काठ की या मिट्टी की स्त्री (पुतली), चित्राम की स्त्री, व स्त्री की (तस्वीर) से भी भयभीत रहो। यह पुतली और स्त्री की तस्वीर भी तुम्हें ब्रह्मचर्य से पतित कर सकती है। क्योंकि इनको देखने से भी चित्त मे क्षोभ संभव है। वही कहा है—

> चीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्सवि तहित्थिरूवस्स।
> हवदिय चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥ ९९ ॥
> घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंत अग्गिसमा।
> तो महिलेयं दुक्का णट्ठ पुरिसा सिवं गया इयरे ॥ १०० ॥ मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखने का अभिलाषी संयमी काठ व मिट्टी की बनी हुई स्त्री तथा चित्र लिखित स्त्री से भी डरता

रहे। क्योंकि वह भी साधु के चित्त में चंचलता व उद्वेग-विकार उत्पन्न कर देती है। चित्त में विकार उत्पन्न होने पर ब्रह्मचर्य का रहना असंभव है। क्योंकि घी से भरे हुए घडे के समान पुरुष है और जाज्वल्यमान अग्नि के समान स्त्री का रूप है। अग्नि के समीप में रहने वाले घट की जैसी अवस्था होती है, वही हालत स्त्री के साथ संसर्ग करने वाले संयमी की होती है।

स्त्री के फोटो और चित्राम मे भी जब पुरुष के मन को क्षोभित करने की शक्ति है तब साक्षात् स्त्री का क्या कहना ? इसलिए हे साधो ! यदि तुम अपनी रक्षा चाहते हो, संयम को स्थिर और ब्रह्मचर्यव्रत को निर्दोष रखना चाहते हो तो स्त्री को सर्प के समान समझो। जो संयमी स्त्री के सम्पर्क में आये हैं-उनके साथ वार्तालाप हास्यादि किया है-उनका संयम-जीवन नष्ट होगया है। और जो इनका दूर से ही त्याग करते हैं, उनके साथ बात चीत तो दूर रही, पूर्ण-दृष्टि से भी जो उनको नहीं देखते हैं। वे ही पुरुष मोक्ष मार्ग पर स्थिर रहे हैं और शिवसुख के अधिकारी बने हैं। इसलिए

मायाए बहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥ १०१ ॥ मूला.

अर्थ—चाहे वह स्त्री माता हो, बहिन हो, पुत्री हो, गूंगी हो या बाला बृद्धा क्यों न हो-स्त्री के शरीर से सदा डरना चाहिए। क्योंकि अग्नि कसी ही क्यों न हो वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ती। जैसे चन्दन की अग्नि भी शरीर को तत्काल भस्मसात् करने में समर्थ होती है, वैसे ही स्त्री मात्र का सम्पर्क ब्रह्मचर्य का घात करनेवाला है।

हे मुने ! तुम ब्रह्मचर्य में दृढ़ हो। तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र है। तुम्हारे चित्त में वैराग्य भावना लहरा रही है। तुमने विषयों को भुजंग के भोग (शरीर) के समान समझकर निर्विकार अवस्था धारण की है। लेकिन संसार मे निमित्त बड़ा बलवान होता है। देखो ! आंखों में जल भरने का कोई स्थान नहीं है तथापि अत्यन्त शोक व दुःख के प्राप्त होते ही आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगती है। ग्राम्यशूकरी (शूरडी) के स्तनों में दूध नहीं रहता है; किन्तु उसके बच्चों के मुंह लगाते ही उनके प्रेम से शूरडी के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है। संयोग पाकर शरीर के परमाणु जल और दूध रूप परिणत हो जाते हैं। बाह्यनिमित्त में अचिन्त्य शक्ति है, बाह्यनिमित्त को पाकर चित्त में विकार भाव उत्पन्न हो सकता है। अतएव स्त्री के अवयवों को कभी मत देखो। जिस स्त्री के हाथ पाँव भी छिन्न भिन्न हो गये हों, कानों से बहरी और नाक से नकटी हो, कोढ़ से जिसका शरीर झरता हो, अत्यन्त विद्रूप हो, यदि वह भी वस्त्रादि रहित नंगी हो तो उस की तरफ मत झांको। सत्ता में बैठे हुए कर्म-शत्रु निमित्त पाते ही उदय में आकर तुम पर विजय प्राप्त करलेंगे। क्योंकि स्त्री आत्मा के यदि गुण का नाश करके नरकादि दुर्गति में लेजानेवाली है।

"परिभवफलवल्लीं दुःखदावानलालीं,
विषमजलधिवेलां श्वभ्रसौधप्रतोलीम् ।
मदनभुजंगदंष्ट्रां मोहतन्द्राप्रवित्रीं,
परिहर परिणामैर्धैर्यमालम्ब्य नारीम् ॥"

अर्थ—हे मुने ! तू धैर्य का अवलम्बन लेकर स्त्री के सम्पर्क को चित्त से भी निकाल दे । अर्थात् स्त्री के आकार का चित्त में भी चिन्तन मत कर । क्योंकि यह स्त्री तिरस्कार रूपी फल को उत्पन्न करने वाली बेल (लता) है । दुःख रूप दावानल की परम्परा को बढ़ाने वाली है । विषय रूप समुद्र की लहर है । नरक रूपी महल का बड़ा द्वार है । काल रूपी सर्प की दाढ़ है । मोह रूपी नींद की जन्मदात्री है । ऐसा जानकर ब्रह्मचर्य का पालन करने में पूर्ण सावधान रहने की आवश्यकता है । ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से विचार किया है ।

ब्रह्मचर्य के भेद

मणबंभचेर वचिबंभचर तह काय बंभचेरं च ।
अहवा हु बंभचेरं दव्वं भावं ति दुवियप्पं ॥ १०३ ॥मूला०

अर्थ—ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का है । १ मानसिक ब्रह्मचर्य, २ वाचनिक ब्रह्मचर्य और कायिक ब्रह्मचर्य । अथवा द्रव्य ब्रह्मचर्य और भाव ब्रह्मचर्य इस प्रकार ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं ।

भावार्थ—मन में स्त्री आदि के सम्बन्ध से विकार भाव के न रहने से तथा स्त्री के रूप का, उसके अवयवों का, श्रृंगार रस पूर्ण शास्त्रों का चिन्तन या मनन न करने से चित्त में क्षोभ नहीं होता है । मांस, मज्जा रुधिर, वात, पित्त, कफ, लार, विष्ठा, मूत्रादि के पात्र, अत्यन्त घृणित स्त्री के अङ्गोपाङ्गों पर दृष्टि पड़ जानेपर उनके असली स्वभाव का विचार करने से मानसिक ब्रह्मचर्य की पालना होती है । काम विकार उत्पन्न करने वाले श्रृंगार रस के पोषक नाटक, काव्य आदि के न पढने से, कामाग्नि प्रज्वलित करने वाली कथा कहानी न करने तथा वैराग्य व विषय-विरक्ति उत्पन्न करने वाले शान्तरस पोषक वचनों के उच्चारण करने से वाचनिक ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है । कामोद्दीपन करनेवाले गरिष्ठ आहार का त्याग करने से, शरीर के संस्कार का त्याग करने से, परम वैराग्य की मूर्ति गुरु आदि महात्माओं के निकट

रहने से, एकाकी भ्रमण न करने से, एकान्त में माता व बहिन तथा परम विरक्त वृद्धा आर्यिका आदि से भी वार्तालापादि का सर्वथा त्याग करने से कायिक ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है।

वचन से व काय से ब्रह्मचर्य का पालन करना द्रव्य ब्रह्मचर्य है। मन से भावब्रह्मचर्य का धारण करना भावब्रह्मचर्य है। भावब्रह्मचर्य से रहित केवल द्रव्य-ब्रह्मचर्य से आत्मा की सद्गति नहीं होती। अतः विषय रूपी वन में रमण करनेवाले मन रूपी मस्त हाथी को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक मनरूपी मस्त हस्ती विषय वाटिकामें क्रीडा करता फिरता है तब तक संयमभाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिए उसे वैराग्य रूपी सांकल से विवेक-ज्ञान रूपी आलान (बन्धन स्तम्भ) के साथ बांधो। अन्यथा संयम की आशा करना व्यर्थ है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधु को निम्नोक्त दोषों से बचना आवश्यक है—

पढमं विउलाहारं विदियं कायसोहणं।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं ॥ १०५ ॥
तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदि सरणमिंदिय विसयरदी पणिदरससेवा ॥ १०६ ॥
दसविहमव्वंभमिणं संसार महादुहाणमवाहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढ बंभव्वदो होदि ॥ १०७ ॥ (मूला. स.)

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए निम्नोक्त विषय का परित्याग करो। १–प्रचुरमात्रा में भोजन मत करो। २–जलस्नान, तैलमर्दन, उबटन, आदि रागवर्धक कारणों से शरीर का संस्कार मत करो। ३–इत्र लवेंडर सेंट आदि सुगन्धित द्रव्यों का शरीर से संयोग मत होने दो। ४–गीतवादित्रादि के सुनने का तथा सुरीले गान का परित्याग करो। ५–रुई आदि के गद्दे पलंग आदि आराम देनेवाली शय्या पर शयन मत करो तथा काम को उत्तेजित करनेवाले क्रीडागृह–चित्रशालादि को मत देखो। ६–रागरंग में निपुण कटाक्षनिरीक्षण एवं शृंगार प्रिय स्त्रियों के संपर्क का त्याग करो। ७–रुपये पैसे का तथा वस्त्राभरणादि का ग्रहण मत करो और न उनको छूओ। ८–पूर्व संयम में भोगे हुए भोगों का स्मरण-चिन्तन मत करो। ९–काम के निमित्त कारण इन्द्रियों के व सुन्दर व मनोहर रूप रसादि विषयों की अभिलाषा मत करो। १०–पौष्टिक व काम को उत्तेजित करनेवाले पदार्थों के सेवन का त्याग करो। ये दश कारण ब्रह्मचर्य के घातक हैं, तथा संसारमें तीव्र दुःख के [illegible] कारण हैं। जो महात्मा इनका भले प्रकार त्याग करता है उसीके ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। जो इनका त्याग किये बिना ब्रह्मचर्य का

मणवयणकायमंगुल मिच्छादंसणपमादो य।
पिसुणत्तणमण्णाणं अणिग्गहो इंदियाणं च ॥ १० ॥
अदिकमणं वदिकमणं आदिचारो तहेव अणाचारो।
एदेहिं चदुहि पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥ ११ ॥ (मूला. शी.)

अर्थ—१ हिंसा, २ असत्य, ३ चोरी, ४ अब्रह्म, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० भय, ११ अरति, १२ रति, १३ जुगुप्सा, १४ मन, १५ वचन, १६ काय, १७ मिथ्यादर्शन, १८ प्रमाद, १९ पैशून्य, २० अज्ञान और २१ इन्द्रियों का अनिग्रह—ये इक्कीस भेद हुए। इनको अतिक्रिम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इनचार भेदों से गुणा करने पर चौरासी भेद होते हैं।

भावार्थ—विषय की अभिलाषा को अतिक्रम कहते है। अर्थात् विषयों के त्यागी संयमी के जो विषय-सेवन की मन में इच्छा उत्पन्न होती है वह अतिक्रम दोष कहलाता है। जो संयमी मुनि सघ को छोड़कर विषय के उपकरणों (साधनो) का संचय करने लगता है उसके व्यतिक्रम दोष उत्पन्न होता है। जो व्रत मे शिथिलता (ढीलापन) होती है, व्रत का कुछ अंश में भंग होता है उसे अतिचार कहते है। और व्रत के भंग को, सर्वथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को, व्रत का मूल नाश करने को अनाचार कहते है। इन चार दोषों से हिंसादि इक्कीस भेदों को गुणा करने से चौरासी भेद होते हैं।

१ पृथिवीकाय, २ अपूकाय ३ तेजकाय, ४ वायुकाय, ५ प्रत्येकवनस्पतिकाय ६ साधारण वनस्पति काय, ७ द्वीन्द्रिय, ८ त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और १० पंचेन्द्रिय इन दश भेदों को परस्पर मे गुणा करने से १०×१०=१०० सौ भेद जीवो के होते हैं।

इन सौ भेदो को पूर्वोक्त चौरासी भेदों से गुणा करने पर ८४×१००=८४०० चौरासी सौ भेद होते हैं।

शीलविराधनाके दशभेद हैं१ स्त्रियोंके साथ हास्य वार्तालापादि करना,२ पौष्टिक(इन्द्रिय विकार जनक)आहार करना,३ सुगन्धित तैल इत्र आदि से तथा गुलाव चम्पा आदि के पुष्पों से शरीर का संस्कार करना, ४ कोमल सुखद शय्या पर सोना, कोमल आसनों पर बैठना ५ कटकादि आभूषण धारण करना, शरीर को सजाना, ६ सुन्दर सुललित रागवर्धक राग रागनियों गाना व सारंगी हारमोनियमादि बाजे बजाना व सुनना तथा नृत्य देखना या इन की अभिलाषा रखना, ७ रुपये पैसे सोना आदि द्रव्यों से संपर्क रखना, ८ कुशील (दुश्चरित्र) मनुष्यों की संगति करना, ९ विषयों के पोषण करने के लिए राजादि की सेवा करना, १० बिना प्रयोजन रात्रि में घूमना। ये दश कारण शील के घातक आगम मे निरूपण किये गये हैं। इन दश भेदों से पूर्वोक्त चौरासी सौ को गुणा करने पर ८४००×१०=८४००० चौरासी हजार भेद होते हैं।

स. प्र.

वचन उच्चारण करने में प्रवृत्ति करनेवाले के जो आत्म-प्रदेशों का परिस्पंद होता है उसे वचनयोग कहते हैं। तथा आभ्यन्तर वीर्यान्तराय व नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम रूप मनोलब्धि के होने पर तथा बाह्य में मनोवर्गणा के आलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का कम्पन होता है उसे मनोयोग कहते हैं। इस प्रकार तीन योग हैं। यहाँ पर योग से मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति का ग्रहण है।

करण—कृत, कारित और अनुमोदना ये तीन करण हैं अथवा मन वचन और काय की अशुभ क्रिया को करण कहते हैं।

संज्ञा—संज्ञानाम अभिलाषा का है। वे चार हैं–१आहारसंज्ञा, २ भयसंज्ञा, ३ मैथुनसंज्ञा और ४ परिग्रहसंज्ञा।

इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियों हैं।

जीवराशि—१ पृथ्वीकायिक, २ जलकायिक, ३ तैजसकायिक, ४ वायुकायिक, ५ प्रत्येक वनस्पति कायिक, ६ साधारण वनस्पति कायिक, ७ दो इन्द्रिय, ८ तीन इन्द्रिय, ९ चार इन्द्रिय और १० पंचेन्द्रिय जीव।

दश मुनिधर्म—१ उत्तम क्षमा, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ सत्य ५ शौच, ६ संयम ७ तप, ८ त्याग ९ आकिंचन्य, और १० ब्रह्मचर्य ये दश मुनि धर्म हैं।

इन सब को परस्पर गुणा करने से नीचे लिखे अनुसार भेद होते हैं।

$$\frac{३ \times ३}{९} \; \frac{\times ४ \times}{३६} \; \frac{५}{१८०} \times \frac{१० \times १०}{१८००} = १८०००$$

इस प्रकार अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—जो श्रेष्ठ मुनीश्वर मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदना रूप अशुभ परिणामों से रहित, आहारादि संज्ञा से रहित, स्पर्शनादि इन्द्रियों से संवृत, पृथिवी कायादि जीवों के रक्षक तथा उत्तम क्षमादि दशधर्मों के पालक होते हैं उनके अठारह हजार शील के भेदों का पालन होता है।

अब संयम के भेद रूप चौरासीलाख उत्तर गुणो का खुलासा करते हैं—

पाणिवहमुसावादं अदत्तमेहुणपरिग्गहं चेव।
कोहमदमायलोहा भयअरदिरदिदुगं छा य ॥ ९ ॥

के वश होकर अपने को महान् दिखाने के लिए अनेक प्रकार के परिग्रह का संचय करता है। मायाचार को सफल बनाने के लिए अथवा कपटाचार को छिपाने के लिए बाह्य आडम्बर दिखाता है। अथवा मायाचारसे दूसरों को ठगकर परिग्रह का संचय करता है। लोभवश अनेक वस्तुओं का अर्जन करता है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह के अर्जन व रक्षण मे कषाय ही कारण होती हैं। परिग्रह के त्याग करनेवाले को प्रथम कषायों का त्याग करना अत्यावश्यक है। जबतक आत्मा में कषाय जीवित है तबतक परिग्रह का त्याग होना असंभव है। अतः कषाय-त्याग पूर्वक दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए। परिग्रह का त्याग करने पर ब्रह्मचर्य का आराधन अति सुगम है। इसलिए हे साधो! तुमको सबसे प्रथम कषाय कृश करनी चाहिए। कषाय के मंद होने पर परिग्रह से अरुचि उत्पन्न होती है और परिग्रह से अरुचि आत्मा को ब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त कराती है। इसलिए परिग्रह त्याग और ब्रह्मचर्य को दृढ़ करने के लिए तुमको कषाय का त्याग करना उचित है। जिस के अन्तः करण में लोभादि कषाय धधक रही है उसकी आत्मा मे ब्रह्मचर्यादि व्रत व दोनों प्रकार के संयम का अंकुर नहीं जमता है। जाज्वल्यमान कषाय व्रत व संयम के बीज को क्षणभर मे दग्ध कर देती है। अतः कषाय का त्याग ही परिग्रह का त्याग और ब्रह्मचर्य का साधक है।

ब्रह्मचर्य मे स्थिरता और परिग्रह के त्याग से साधु का अन्तःकरण सब पदार्थों से विरक्त और मोह रहित हो जाता है, शान्त तथा शुभ ध्यान मे तत्पर रहता है, उसकी सब क्रियाएँ निर्दोष होती हैं। उसकी भिक्षाचर्या मे शुद्ध परिणति होती है, ध्यान स्वाध्याय में उसको अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है और वह पापक्रियाओं से निवृत्त रहता है।

व्रतों की रक्षा के लिए शील का होना नितान्त आवश्यक है इसलिए यहाँ शील के भेदों को भी समझा देते हैं।

शील-निरूपण

जोए करणे सण्णा इंदियभोम्मादि समण धम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारह सीलसहस्साइं ॥ २ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—तीन योग, तीन करण, चारसंज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायादि जीव और दश प्रकार मुनिधर्म इन को परस्पर गुणा करने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं।

भावार्थ—योग और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर औदारिकादि सात प्रकार की कायवर्गणाओं में से किसी एक के अवलम्बन से जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (कम्पन) होता है उसे काययोग कहते हैं। शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई वचनवर्गणा के आश्रय तथा वीर्यान्तराय और अक्षरात्मक मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमादि आभ्यन्तर वचनलब्धि के होने —

पालन करने की इच्छा करता है। वह आकाश के कुसुम से सुगन्ध चाहता है। उसका ब्रह्मचर्य बालू की भीत के समान है। ब्रह्मचर्यव्रत को दृढ़ बनाने के लिए उक्त दश त्याग आवश्यक हैं। भाव-ब्रह्मचर्य का धारण व रक्षण उतना ही आवश्यक है जितना कि आयु की रक्षा के लिए शरीर का रक्षण आवश्यक है, अथवा शरीर रक्षा के लिए आहार-ग्रहण आवश्यक है। जिस महात्मा ने द्रव्य-ब्रह्मचर्य को सुरक्षित बना रखने के लिए उक्त दश प्रतिकूल कारणों का त्याग किया है, उसी ने भाव-ब्रह्मचर्य की रक्षा कर आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त किया है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के होने पर ही चारित्र होता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से शरीर मे चारित्र के पालन करने की तथा आत्मा में ध्यान मे स्थिर रहने की सामर्थ्य प्रकट होती है। ब्रह्मचर्य के प्रताप से ज्ञानबल के साथ आत्मा की सोई हुई सब शक्तियां जाग उठती हैं और वह आत्मा सहज ही में कर्म-शत्रुओं को परास्त कर अपने निज (शिव) पद को प्राप्त कर लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के त्याग आवश्यक हैं। कहा भी है—

चाओ य होइ दुविहो संगच्चाओ कलत्तचाओ य।
उभयच्चायं किचा साहू सिद्धिं लहू लहदि ॥ ११५ ॥ (मूला.)

अर्थ—यति के दो प्रकार का त्याग होता है। १ परिग्रह का त्याग और २ कलत्र (स्त्री) का त्याग। इन दोनों त्यागों को करके साधु शीघ्र ही सिद्धि को पा लेता है।

भावार्थ—परिग्रह-त्यागी और समस्त स्त्री का त्यागी शील व्रती मुक्ति का अधिकारी होता है। परिग्रहत्याग का ब्रह्मचर्य से भी सम्बन्ध है। जिसके दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है उसके ही ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता होती है। भाव-ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्राप्ति के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं ॥ १०८ ॥ (मूला.)

अर्थ—जीव क्रोध से, मद से, माया से, व लोभ से परिग्रह मे आसक्त होता है। इसलिए साधुओं को क्रोधादि कषायों का तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का और दोनों प्रकार के अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए।

भावार्थ—जिसको आत्मा ग्रहण करता है उसे परिग्रह कहते हैं। वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। किन्तु कषाय के वशीभूत हुआ आत्मा अपने स्वरूप से तो पृथक् होता है और आत्म-स्वरूप से भिन्न पदार्थों मे आसक्त होता है। क्रोध के आवेश मे होकर क्रोध की शान्ति के लिए बाह्यपदार्थों का आश्रय लेता है। जिसपर क्रोधित हुआ हो उससे वैर निर्यातन करने के लिए शस्त्रादि का ग्रहण करता है। अभिमान

१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ बादर, ५ सूक्ष्म, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दाकुलित, ७ बहुजन, ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी ये आलोचना के दशदोष हैं। इनका विशेष वर्णन तप आचार में कर आये हैं।

पूर्वोक्त चौरासी हजार भेदों का इन दश भेदों से गुणा करने पर ८४०००×१०=८४०००० आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं।

प्रायश्चित्त के दश भेद

१ आलोचन, २ प्रतिक्रमण, ३ उभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग ६ तप ७ छेद, ८ मूल, ९ परिहार, और १० श्रद्धान। इनका विशेष वर्णन भी पहले आचुका है। इन प्रायश्चित्त के दश भेदो को पूर्वोक्त आठ लाख चालीस हजार भेदों से गुणा करने पर ८४००००×१०=८४०००००दोषो के चौरासी लाख भेद होते हैं। इन दोषों के विपरीत चौरासी लाख उत्तरगुण हैं।

जैसे—धीर वीर मुनि, हिंसा के त्यागी, अतिक्रम दोष रहित, पृथिवी के आरम्भ से विमुख, स्त्री सम्पर्क से दूर, आकंपित दोष रहित, आलोचना शुद्धिवाले होते हैं। मृषावाद से विरक्त (सत्यमहाव्रती), अति क्रम दोष हीन, पृथिवी के आरम्भ से विरक्त, स्त्री सम्पर्क से पृथक्, आकम्पितदोषरहित आलोचनशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार अदत्तादान विरत आदि में भी अतिक्रमदोषरहित आदि लगालेना चाहिए। अतिक्रमदोष रहित का जब हिंसादि पांचो पापों के त्यागी के साथ सम्बन्ध हो जावे तब अतिक्रम के स्थान मे व्यतिक्रम को लगाकर पूर्ववत् सब पाठ को ज्यो का त्यों पढ़ना चाहिए। जब व्यतिक्रम का सम्बन्ध पांचो हिंसादि विरतों के साथ पूर्ण हो जावे तब व्यतिक्रम को हटाकर उसके स्थान मे अतिचार पद को जोड़कर पूर्व की तरह सब पाठ ज्यो का त्यो रखना चाहिए। अब अतिचार का भी सम्बन्ध उक्त पांचो हिंसादि विरतों के साथ पूर्ण हो जावे तब अतिचार को निकालकर उसके स्थान 'अनाचार' पद जोड़ देना चाहिए। जब अनाचार का सम्बन्ध भी पांचों हिंसादि विरतो के साथ सम्पूर्ण हो जावे तब उसके आगे के भंग सम्बन्धी 'पृथिवीकाय आरम्भ-त्यागी' को हटाकर उसके स्थान में 'जलकायारंभ-त्यागी' इस पद का सम्बन्ध कर लेना चाहिए। उक्त प्रकार पूर्व भंग का सम्बन्ध अन्तिम भंग तक हो जाने पर उसको निकाल कर उसके आगे के भंग का सम्बन्ध करते चले जाना चाहिए। यह क्रम तब तक करते रहना चाहिए जब तक अन्तिम भंग समाप्त न हो जावे।

अब शील और उत्तर गुणों का विशाद ज्ञान होने के लिए निम्नोक्त पाँच विकल्पों का प्रतिपादन करते हैं:—

सीलगुणाणं संखा पत्थारो अक्खसंकमो चेव।
णट्ठं तह उद्दिट्ठं पंचवि वत्थूणि णेयाणि ॥ १९ ॥ (मू० शी०)

अर्थ—शील तथा गुणों के भेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संख्या, प्रस्तार, अक्ष–संक्रम (अक्षों का परिवर्तन) नष्ट और उद्दिष्ट ये पाँच प्रकार हैं।

भेदों की गणना को संख्या कहते हैं। भेदों की संख्या निकालने अथवा रखने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। प्रथम भेद से दूसरे भेद पर पहुँचने के क्रम को अक्षसंक्रम कहते हैं। संख्या का ज्ञान होने पर भेदों के निकालने को नष्ट कहते हैं। भेदों को जानकर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं।

शील व गुणों की संख्या निकालने का नियम

सव्वे वि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एकमेक्केसु ।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पजदे संख्या ॥ २० ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—शील व गुणों के सब पूर्व भंग ऊपर के प्रत्येक भंग में मिलते हैं। अतएव उनको क्रमसे गुणा करलेने पर संख्या निकलती है। जैसे—प्रथम भंग 'योग' के प्रमाण तीन को ऊपर के भंग 'करण' के प्रमाण तीन से गुणा करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक योग का सम्बन्ध प्रत्येक करण के साथ पाया जाता है। इसलिए तीन करण से गुणा करने पर नव संख्या उत्पन्न हुई। इसको ऊपर के 'भंग' संज्ञा के प्रमाण चार से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग और प्रत्येक करण का सम्बन्ध प्रत्येक संज्ञा के साथ पाया जाता है। अतः नव को चार से गुणा करने पर छत्तीस (३६) संख्या हुई। इसको ऊपर के भंग 'इन्द्रिय' के प्रमाण पांच से गुणा करना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक योग, करण और संज्ञा का सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ है। अतः छत्तीस को पांच से गुणा करने पर एकसौ अस्सी (१८०) संख्या हुई। इसको ऊपर के भंग पृथिवीकायादि जीवों के प्रमाण दश से गुणा करना चाहिए, क्योंकि योग, करण, संज्ञा और इन्द्रियों के प्रत्येक भेद का सम्बन्ध प्रत्येक पृथिवीकायादि जीव के साथ है। अतः एकसौ अस्सी को दश से गुणा करने पर अठारह सौ (१८००) हुए। इनको आगे के भंग उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के प्रमाण दश से गुणा करने पर कुल शीलों की संख्या अठारह हजार होती है। क्योंकि पूर्व के प्रत्येक भंग के भेदों का सम्बन्ध प्रत्येक उत्तम क्षमादि मुनिधर्म के साथ है। अतः सम्पूर्ण शील व्रत के भेदों की संख्या १८००० होती है।

प्रस्तार का उत्पत्ति-क्रम

पढमं सीलपमाणं कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।
पिंडं पडि एक्केक्कं णिक्खित्ते होइ पत्थारो ॥ २१ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—प्रथम शील के प्रमाण का क्रमसे (विरलनरूप) निक्षेपण करके उसके विरलनरूप के प्रति अर्थात् एक एक रूप के प्रति ऊपर के पिंडरूप शील प्रमाण का निक्षेपण करना चाहिए। इस क्रम से निक्षेपण करने पर प्रस्तार उत्पन्न होता है।

जैसे—प्रथम शील 'योग' का प्रमाण तीन है। उसका विरलन कर के अर्थात् बिखेर करके क्रमसे १ १ १ इस प्रकार निक्षेपण करके इसके ऊपर आगे के शील 'करण' के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक के अंक ऊपर $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ $\frac{३}{१}$ इस प्रकार निक्षेपण करना चाहिए। इसके अनन्तर 'करण' के प्रमाण को परस्पर जोड ने पर नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर इनका विरलन कर (बिखेरकर) एक एक अंक को नव बार १ १ १ १ १ १ १ १ १ इस प्रकार लिख कर आगे शील संज्ञा के प्रमाण चार के पिंड को प्रत्येक एक अंक के ऊपर $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ $\frac{४}{१}$ निक्षेपण करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येक संज्ञा के पिण्ड को जोडने पर छत्तीस (३६) होते हैं। छत्तीस को प्रथम समझकर विरलनकर एक एक अंक को छत्तीस जगह रखना चाहिए। और उन प्रत्येक छत्तीस एकों पर आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पाँच का निक्षेपण कर उनको जोड़ना चाहिए। जोडने पर एक सौ अस्सी संख्या होती है उनको भी पूर्व की भांति विरलनकर एक एक अंक को एक सौ अस्सी जगह रखना चाहिए। तथा उनके ऊपर आगे के शील जीव राशि प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर स्थापन करना चाहिए। तत्पश्चात् पहले की तरह उनको जोडने से अठारह सौ संख्या होती है। उस संख्या का विरलन कर एक एक अलग रखकर, आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश के पिंड को प्रत्येक एक के ऊपर रखना चाहिए। पूर्व की तरह उनको जोडने से अठारह हजार संख्या प्रमाण शील के भेद होते हैं। इस प्रकार भेद निकालने के क्रम को प्रस्तार कहते हैं। इस क्रम से यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्व पूर्व के शील के प्रत्येक भेद उत्तर के समस्त शील के भेदों के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

इस प्रकार सम प्रस्तार का निरूपण करके अब विषम प्रस्तार का निरूपण करते हैं—

णिक्खित्तु विदियमेत्त' पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं।
पिंडं पडि णिक्खित्त' तहेव सेसावि कादव्वा ॥ २२ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—द्वितीय शील का जितना प्रमाण उतनी बार प्रथम शील के प्रमाण के पिंड को रख कर उसके ऊपर एक एक पिंड के प्रति द्वितीय शील के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। और आगे के भंगों के लिए इसी क्रम से स्थापन करना चाहिए।

जैसे—द्वितीयशील 'करण' का प्रमाण तीन है। इसलिए तीन जगह प्रथम शील योग के प्रमाण तीन के पिंड को

३ ३ ३ इस प्रकार रखकर उन प्रत्येक पिंड के ऊपर द्वितीय शील 'करण' के प्रमाण को एक एक करके $\frac{1}{3}$ $\frac{1}{3}$ $\frac{1}{3}$ इस प्रकार रखना चाहिए। इनको जोड़ने से नव (९) होते हैं। इन ९ को प्रथम समझकर आगे के संज्ञा-शील का प्रमाण चार है अतः नौ के पिण्ड को चार जगह रखकर उन प्रत्येक पिण्ड के ऊपर संज्ञा के प्रमाण को एक एक करके $\frac{1}{9}$ $\frac{1}{9}$ $\frac{1}{9}$ $\frac{1}{9}$ रखना चाहिए पश्चात् उनको जोड़ने पर छत्तीस होते हैं। इन छत्तीस को प्रथम मानकर इसके आगे के 'इन्द्रिय' शील का प्रमाण पांच है, इसलिए छत्तीस के पिंड को पांच जगह रखकर उस प्रत्येक पिंड के ऊपर इन्द्रिय प्रमाण पांच को एक एक करके स्थापन कर उनको जोड़ लेने पर एकसौ अस्सी (१८०) होते हैं। इन को प्रथम समझ कर इसके आगे का शील 'जीवराशि' का प्रमाण दश है इसलिए दश बार एकसौअस्सी को रखना चाहिए और प्रत्येक एकसौ अस्सी के पिंड पर दश प्रमाण को एक एक करके स्थापन करना चाहिए। पश्चात् प्रत्येकपिंड को जोड़ने से अठारह सौ होते हैं। इनको भी प्रथम मानने से इसके आगे का शील 'मुनिधर्म' है, उसका प्रमाण दश है। इसलिए दश जगह अठारह सौ के पिंड को रखकर प्रत्येक पिंड के ऊपर दश के प्रमाण को एक एक करके रखना चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक पिंड को जोड़ने से अठारह हजार शील के भेद होते हैं। इस प्रकार द्वितीय विषम प्रस्तार का क्रम समझना चाहिए। प्रथम समप्रस्तार एक एक के प्रति पिंड का निक्षेपण करने से होता है और पिंड के प्रति एक का निक्षेपण करने से द्वितीय विषम प्रस्तार होता है।

अक्षसंक्रमण (अक्षपरिवर्तन) का नियम

पढमक्खे अंतगदे आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ २३ ॥ (मूला० शी०)

अर्थ—योग की गुप्ति रूप प्रथम अक्ष क्रम से घूमते हुए जब अंत तक पहुंच कर फिर मनोगुप्तिरूप आदि स्थान पर आजाता है तब द्वितीय करण का स्थान मनकरण को छोड़कर वचनकरण पर आता है। इसी प्रकार जब द्वितीय करण स्थान भी क्रम से घूमता हुआ अन्त तक पहुंच कर जब आदि मनकरण स्थान पर आता है तब तीसरा संज्ञास्थान बदलता है। अर्थात् आहार संज्ञा को छोड़कर भय संज्ञा पर आता है। जब संज्ञा स्थान भी पूर्व की भाँति क्रमशः भ्रमण करता हुआ अंत तक जाकर वापिस आदिस्थान (आहार संज्ञा) पर आता है तब चौथा इन्द्रिय स्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शन को छोड़कर रसना पर आता है। इसी प्रकार इन्द्रिय स्थान भी जब क्रमशः घूमता हुआ अन्त तक पहुँचकर आदि स्थान (स्पर्शन) पर आता है तब पांचवाँ जीवराशिस्थान बदलता है। अर्थात् पृथिवीकाय स्थान को छोड़कर जलकाय स्थान पर आता है। इसी प्रकार जब जीवराशि स्थान पर भी अन्त तक पहुंच कर आदि स्थान स्पर्शन पर आता है तब छठा स्थान मुनिधर्म बदलता है। इस प्रकार अक्ष के परिवर्तन होने का क्रम समझना चाहिए।

नष्ट निकालने की विधि

सगमाणेहि विभत्ते सेसं लक्खितु संखिवे रूवं ।
लक्खिज्जंतं सुद्धे एवं सव्वत्थ कायव्वं ॥ २४ ॥ (मू. शी.)

अर्थ—जिस संख्यावाला शील का भंग जानना हो उतनी संख्या रखकर उसमें क्रम से शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। भाग देने पर जो रूप अर्थात् शेष रहे, उतनी संख्या का अक्षस्थान समझना चाहिए। यदि शेष कुछ भी न रहे अर्थात् शेष शून्य आवे तो अन्त का अक्षस्थान समझना चाहिए और लब्ध में एक नहीं मिलाना चाहिए। जो संख्या लब्ध आवे, उसमें रूप (एक) मिलाकर आगे वाले शील के प्रमाण का भाग देना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करते जाना चाहिए।

जैसे—दोहजार अस्सी संख्या का कौनसा भंग है ? इस प्रकार पूछने पर बताई हुई २०८० संख्या को रखकर उसमें प्रथम शील योग के प्रमाण तीन का भाग देने से लब्ध छहसौ तिरानवे ६९३ आये और शेष एक आया, इसलिए योग अक्षका प्रथम स्थान मनोयोग हुआ। लब्ध ६९३ में एक मिलाकर आगे के शील करण के प्रमाण तीन का भाग देने पर दोसौ इकतीस लब्ध आये और शेष एक रहा। इसलिए करण अक्ष का प्रथम स्थान 'मनकरण' हुआ और लब्ध मे एक मिलाना चाहिए। अतः दोसौ बतीस में आगेके शील संज्ञा के प्रमाण चार का भाग देने पर लब्ध अठावन आये और शेष शून्य रहा; इसलिए लब्ध में एक नहीं मिलाना और संज्ञा का अन्त स्थान परिग्रह संज्ञा समझना चाहिए। उक्त अठावन संख्या में आगे के शील 'इन्द्रिय' के प्रमाण पांच का भाग देने पर ग्यारह लब्ध आये और शेष तीन रहे। इसलिए इन्द्रिय का तीसरा स्थान घ्राण समझना चाहिए। ग्यारह में एक मिलाकर ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश का भाग देने पर लब्ध एक आया, उसमे एक मिलाना चाहिए। शेष दो रहे, इसलिए जीवराशि का दूसरा अपूकाय स्थान समझना चाहिए। तथा दो मे आगे के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश का भाग नहीं जाता है। अतः मुनिधर्म का दूसरा स्थान मार्दव समझना चाहिए।

दो हजार संख्या वाला भंग मनो गुप्ति पालक, मन करण का त्यागी, परिग्रह संज्ञा रहित, घ्राणइन्द्रिय–विरक्त, अपूकाय संयमी, और मार्दव धर्म पालक हुआ है।

उद्दिष्ट का विधान

संठाविदूण रूवं उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।
अवणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा पढमंति जावेव ॥ २५ ॥ (मूला० शा)

अर्थ—रूप (एक) का स्थापन करके उसको ऊपर के शील का जितना प्रमाण है उससे गुणा करना चाहिए तथा उसमें जो अनंकित हो उसका परित्याग करना चाहिए। इसी प्रकार अन्त तक करने से उद्दिष्ट का प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—शील के भङ्ग को स्थापन कर संख्या निकालने को उद्दिष्ट कहते हैं। उसकी रीति निम्नोक्त प्रकार है।

जैसे—मनोगुप्ति पालक, मनकरण का त्यागी, घ्राणेन्द्रिय विरक्त, परिग्रह संज्ञा रहित, अप्कायारम्भत्यागी और मार्दव धर्म का पालक यह शील का भंग कितनी संख्या वाला है? इस प्रकार किसी के प्रश्न करने पर प्रथम एक का अङ्क स्थापन करके ऊपर के शील मुनिधर्म के प्रमाण दश से उस एकको गुणा करना चाहिए। गुणनफल दश हुए। उनमें से अनङ्कित आर्जव शौच सत्य संयमादि आठ धर्म हैं, क्योंकि पूछेगये भंग में मार्दव धर्मका ग्रहण है अतः शेष आर्जवादि धर्म आठ हैं उनको दशामें से घटाने से दो रहे। उनको ऊपर के शील जीवराशि के प्रमाण दश से गुणा करने पर बीस होते हैं। उनमें अनङ्कित तेज कायादि आठ हैं उनको बीस में से घटाने पर शेष बारह रहे। उनको आगे के शील स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों के साथ गुणा करने पर साठ होते हैं। उनमें से अनङ्कित चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय दो घटाने से अठावन रहे। उनको आगे के शील संज्ञा प्रमाण चार से गुणा करने पर दोसौ बत्तीस होते हैं। संज्ञा में अनङ्कित कोई नहीं हैं; क्योंकि प्रश्न में परिग्रह संज्ञा का ग्रहण किया गया है। अतः दोसौ बत्तीस को आगे के शील 'करण' प्रमाण तीन से गुणा करने पर छहसौ छयानवे होते हैं। उनमें से अनङ्कित वचनकरण और कायकरण (दो) को घटाने से शेष छहसौ चौरानवे रहे। उनको आगे के शील योग गुप्ति प्रमाण तीन से गुणा करने पर दो हजार बियासी होते हैं। उनमें अनङ्कित वचन योग और काययोग को घटाने से शेष दो हजार अस्सी प्रमाण रहता है। यह दो हजार अस्सी शील की संख्या उक्त प्रश्न का उत्तर है। इसी प्रकार सर्वत्र भंगों से संख्या निकाल लेना चाहिए।

इस प्रकार शील व व्रतों के भेदों को जान कर उनके पालन का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए और साथ ही मूलगुणों के पालन में भी पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। यह मुनि-मार्ग बड़ा कठिन है। कहीं जरा भी चूका और गिरा। चाहे कोई कितना ही तपस्वी हो, यदि वह मूलगुणों की विराधना करता है तो सच्चा साधु नहीं। मूलाचार में स्पष्ट लिखा है—

> मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
> बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥

जो साधु अहिंसा, सत्य आदि मूलगुणों का विनाश करके मासोपवास, वृक्षमूल, आतपन योग आदि उत्तरगुणों का आचरण करता है उसके वे दुर्धर कायक्लेशादि सब योग-जिसकी जड़ कट गई ऐसे वृक्ष के पत्र पुष्पादि के समान-निरर्थक हैं। अर्थात् जैसे वृक्ष की जड़

कट जाने पर उसके पत्ते फूल आदि किसी काम के नहीं रहते, सब सूख कर बेकार हो जाते हैं उसी प्रकार जिस साधु के अहिंसा, सत्य आदि अठाईस मूलगुण ही नहीं हैं, उनमें भी अनाचार दोष आता है उसके दुर्धर तप आदि सब बाह्य योग बेकार हैं। मूलगुणों के बिना उनका कोई फल नहीं मिल सकता। इसलिए संयमी को अपने प्रत्येक कर्तव्य पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। आहारशुद्धि, उपकरणशुद्धि शय्याशुद्धि, वसतिका शुद्धि आदि शुद्धियों में किसी की भी उपेक्षा करने पर साधु गृहस्थ से भी बुरा बन जाता है। इसलिए अपने सम्पूर्ण कर्तव्य को अच्छी तरह समझकर उसका यथोचित पालन करना चाहिए।

यहाँ तक श्री आचार्य सूर्यसागरजी महाराज विरचित
संयम-प्रकाश नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में द्वादशानु
प्रेक्षा, अनगार भावना आदि अनेक
विषयों का प्रकाश करने वाली
चतुर्थ किरण समाप्त
हुई